SWAMI VIVEKANANDA

·The Hindoo Monk of India·

मासिक

विवेक-ज्योति

वर्ष ३७, अंक ४
अप्रैल १९९९
मूल्य रु. ५.००

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (म. प्र.)

भिलाई का केवल इस्पात आकर्षित नहीं करता ग्राहकों को
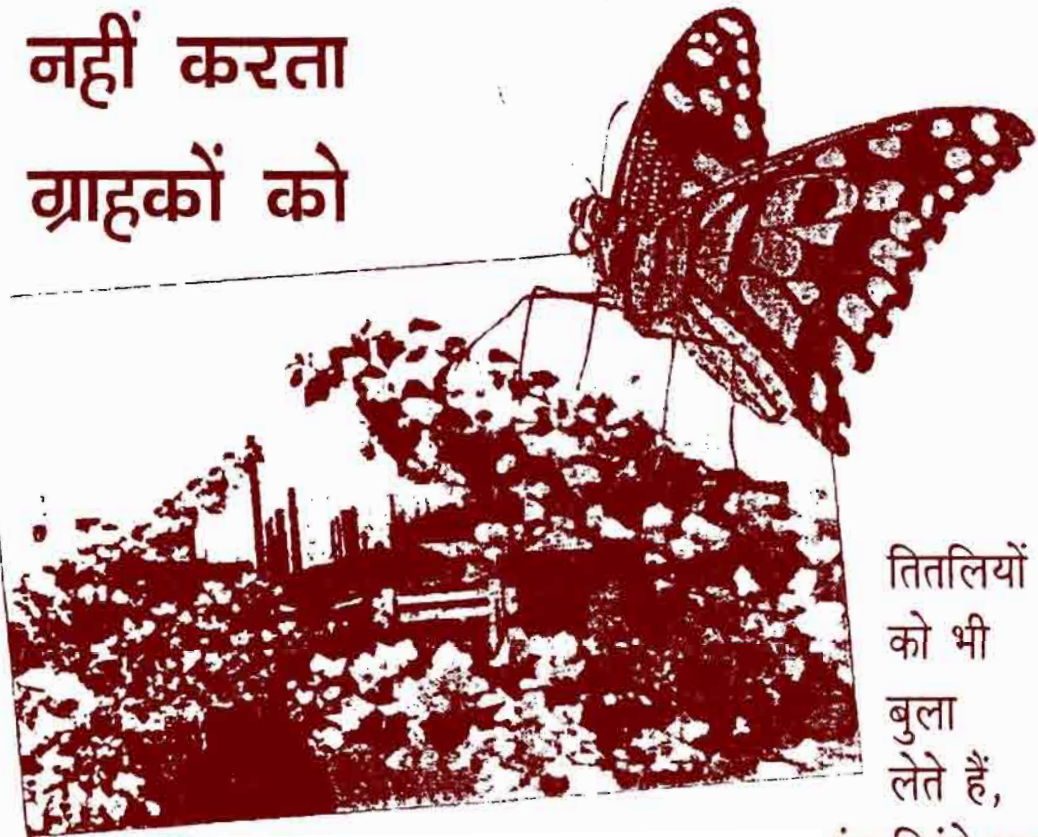
तितलियों को भी बुला लेते हैं, रंग-बिरंगे फूल!

प्रतिवर्ष भिलाई बिरादरी संयंत्र, खनि-नगरों और इस्पात नगरी में एक लाख पचास हजार से अधिक पौधे लगाती है । संयंत्र के भीतर अनेक उद्यान भी विकसित किये गये हैं । प्रबुद्ध एवं संवेदनशील प्रबंधन ने पर्यावरण को उच्च प्राथमिकता पर रखा है, शायद इसीलिए बहुत से भ्रमणार्थी सोच में पड़ जाते हैं कि संयंत्र में उद्यान है या उद्यानों में संयंत्र?

हर किसी की जिंदगी से जुड़ा हुआ है सेल

स्टील अथॉरिटी ऑफ इंडिया लिमिटेड

भिलाई इस्पात संयंत्र

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

अप्रैल, १९९९

प्रबन्ध-सम्पादक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

वार्षिक ५०/- | वर्ष ३७ अंक ४ | एक प्रति ५/-

आजीवन ग्राहकता शुल्क (२५ वर्षों के लिए) ७००/-

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम
रायपुर – ४९२ ००१ (म. प्र.)

दूरभाष : २२५२६९, ५४४९५९, २२४११९

विवेक-ज्योति के आजीवन सदस्य

(तीसरी तालिका)

१०१. श्रीमती कृष्णा गादी, नई दिल्ली
१०२. श्री राजेन्द्र दास वैष्णव, राजनांदगाँव (म. प्र.)
१०३. श्री सुरेन्द्र सिंह क्षत्री, मरोदा, भिलाई (म. प्र.)
१०४. श्रीमती उषा अरोरा, मुम्बई (महाराष्ट्र)
१०५. श्री अभिषेक दुबे, सुन्दरनगर, रायपुर (म. प्र.)
१०६. श्रीमती रजनी अग्रवाल, गाँधी चौक, नागपुर (महाराष्ट्र)
१०७. श्री एस. के. मुंदड़ा, पार्क कॉलोनी, जामनगर (गुजरात)
१०८. श्री विजय कुमार मिश्रा, सेन्दरी, जांजगीर, चम्पा (म. प्र.)
१०९. श्री संजय दवे, शंकरनगर, रायपुर (म. प्र.)
११०. श्री सुधीर के. मिश्रा, चितले कॉलोनी, बिलासपुर (म. प्र.)
१११. श्री रामखिलावन वर्मा, आजाद चौक, रायपुर (म. प्र.)
११२. श्री एस. सी. पाण्डेय, कोरबा (म. प्र.)
११३. श्री विश्वास चन्द्राकर, न्यू आदर्श नगर, दुर्ग (म. प्र.)
११४. श्रीमती मन्जू शर्मा, शहदरा, दिल्ली
११५. डॉ. आशा जैन, जलविहार कॉलोनी, रायपुर (म. प्र.)
११६. श्री दाताराम मिश्रा, काशीपुर, समस्तीपुर (बिहार)
११७. सुश्री राधिका मिश्रा, नई दिल्ली
११८. श्री भगवानदास चतवानी, कोटा (राजस्थान)
११९. श्री सत्यनारायण एम. ओझा, इचलकरंजी, कोल्हापुर (महाराष्ट्र)
१२०. श्री सच्चिदानन्द दुबे, भैयाथान, सरगूजा (म. प्र.)
१२१. श्री उल्हास पी. बुजोने, लक्ष्मीनगर, नागपुर (महाराष्ट्र)
१२२. श्री संजय दीक्षित, राजावार्ड, होशंगाबाद (म. प्र.)
१२३. श्रीमती अर्चना मिश्रा, जुहू, मुम्बई (महाराष्ट्र)
१२४. श्रीमती सावित्री दुबे, जुहू, मुम्बई (महाराष्ट्र)
१२५. श्रीमती वीणा खुराना, जुहू, मुम्बई (महाराष्ट्र)
१२६. श्री विवेक गुप्ता, आनन्द नगर, रायपुर (म. प्र.)
१२७. सुश्री पद्मश्री घोष, जबलपुर (म. प्र.)
१२८. श्री रामकृष्ण कुटीर, बीकानेर (राजस्थान)
१२९. श्री रघुनन्दन सेठी, कोटा (राजस्थान)
१३०. श्री अरुण एम. ओगीराल, धन्तोली, नागपुर (महाराष्ट्र)
१३१. श्री भगवत प्रसाद वर्मा, मिढवानी, नरसिंहपुर (म.प्र.)
१३२. श्री विजय कुमार बघेल, कोरबा (म. प्र.)
१३३. श्री सतीश कुमार द्विवेदी, बिलासपुर (म. प्र.)
१३४. सुश्री गीता व्यास, जबलपुर (म. प्र.)

१३५. डॉ. सी.एल. साहू, टाटीबन्द, रायपुर (म.प्र.)
१३६. श्रीमती सुमोहा डी. मेघ, बड़ौदा (गुजरात)
१३७. श्री यशवन्त गोविन्द चोपड़े, मलकापुर, बुलढाना (महाराष्ट्र)
१३८. डॉ, अखिलेश अग्रवाल, हरिद्वार (उ.प्र.)
१३९. श्रीमती माधुरी गोयनका, पोणारखारी, भण्डारा (महाराष्ट्र)
१४०. आत्माराम द्वारकादास चेरिटबल ट्रस्ट, मुम्बई (महाराष्ट्र)
१४१. श्री दिलीप दौलतराव गोरे, बुलढाना (महाराष्ट्र)
१४२. श्री अशोक एन. पासावाला, अहमदाबाद (गुजरात)
१४३. श्री पंकज कुमार शंखधर, लालकुँआ, हल्द्वानी (उ.प्र.)
१४४. श्री अनिल तपादार, ऐरा स्टेट, लखीमपुर खीरी (उ.प्र.)
१४५. श्री जगदीश प्रसाद चन्द्राकर, फरफौद (रायपुर)
१४६. श्री ओमप्रकाश सुनारीवाल, मुम्बई (महाराष्ट्र)
१४७. श्री रुस्तम सिंह, सिविल लाइन्स, रायपुर (म.प्र.)
१४८. प्राचार्य, केन्द्रीय विद्यालय, सागोद रोड, रतलाम (म.प्र.)
१४९. श्रीमती चित्रलेखा देवी, सागर (म.प्र.)
१५०. कुमारी सुमन शाण्डिल्य, कटघोरा, बिलासपुर (म.प्र.)

आजीवन ग्राहकों को सूचना

मासिक 'विवेक-ज्योति' का आजीवन ग्राहकता शुल्क (पच्चीस वर्षों के लिए) रु. ७००/- निर्धारित हुआ है। जिन ग्राहकों ने पिछले पच्चीस वर्षों के दौरान १००, २०० या ३०० रुपये की दर से यह शुल्क जमा किया है, उनसे अनुरोध है कि वे अपने ग्राहक संख्या का उल्लेख करते हुए यथाशीघ्र बाकी राशि का, अपनी सुविधानुसार इकट्ठे या किस्तों में मनिआर्डर या बैंकड्राफ्ट के द्वारा जमा कर दें। ड्राफ्ट 'रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर' के नाम से बनवाएँ। भेजी जानेवाली राशि का विवरण इस प्रकार है – ग्राहक संख्या L-९१४ से L-३४१४ तक रु. ६००/-; ग्राहक संख्या L-३४१५ से L-३९२५ तक रु. ५००/-; ग्राहक संख्या L-३९२६ से L-४१९३ तक रु. ४००/-।

जिन सदस्यों की राशि जनवरी २००० ई. के पूर्व प्राप्त हो जायेगी, उन्हें जनवरी-९९ से पच्चीस वर्षों के लिए नया आजीवन सदस्य बना लिया जायेगा। नवीनीकरण के लिए बाकी राशि न प्राप्त होने पर जमाराशि में से प्रतिवर्ष का वार्षिक शुल्क (रु. ५०) काट लिया जायेगा और राशि समाप्त हो जाने पर अंक भेजना स्थगित कर दिया जायेगा।

– व्यवस्थापक

१.	ब्रह्मज्ञानी का त्याग (भर्तृहरि)	२१३
२.	सरस्वती-वन्दना ('विदेह')	२१४
३.	अग्निमंत्र (विवेकानन्द के पत्र)	२१५
४.	चिन्तन-३८ (नान्य: पन्था विद्यतेऽयनाय) (स्वामी आत्मानन्द)	२१७
५.	श्रीरामकृष्ण-वचनामृत-प्रसंग (६६ वाँ प्रवचन - उत्तरार्ध) (स्वामी भूतेशानन्द)	२१९
६.	मानस-रोग (३१/२) (पं. रामकिंकर उपाध्याय)	२२७
७.	श्री शंकराचार्य चरित (२) (स्वामी प्रेमेशानन्द)	२३७
८.	माँ के सान्निध्य में (४५) (सरयूबाला देवी)	२४५
९.	स्वामी विवेकानन्द के साथ भ्रमण (४) (भगिनी निवेदिता)	२४९
१०.	हमारी शिक्षा (४) (स्वामी निर्वेदानन्द)	२५५
११.	पुनि पुनि पढ़िए (भैरवदत्त उपाध्याय)	२६३
१२.	मन को कैसे ठीक रखें (स्वामी सत्यरूपानन्द)	२६५
१३.	स्वामी तुरीयानन्द के उपदेश (पत्रों से संकलित)	२६७

मुद्रक : संयोग आफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : ५४६६०३)

ब्रह्मज्ञानी का त्याग

ब्रह्मज्ञानविवेकनिर्मलधियः कुर्वन्त्यहो दुष्करं
यन्मुञ्चन्त्युपभोगभाञ्ज्यपि धनान्येकान्ततो निःस्पृहाः ।
संप्राप्तान्न पुरा न संप्रति न च प्राप्तौ दृढप्रत्यया-
न्वाञ्छामात्रपरिग्रहानपि परं त्यक्तुं न शक्ता वयम् ।।

अन्वय – ब्रह्म-ज्ञान-विवेक-निर्मल-धियः (ब्रह्मज्ञान के विवेक से जिनका चित्त शुद्ध हो चुका है), अहो (अहो!) दुष्करं (कितना कठिन कर्म) कुर्वन्ति (किया करते है) यत् (कि वे) एकान्ततः (पूर्णतः) निःस्पृहाः (कामनाशून्य होकर) उपभोग-भाञ्जि (उपभोग करने योग्य) धनानि अपि (धन-सम्पदा आदि का भी) मुञ्चति (त्याग कर देते हैं); (दूसरी ओर) वयं (हम लोग) पुरा (पहले से) न संप्राप्तान् (अप्राप्त) च (और) न संप्रति (न वर्तमान में) प्राप्तौ (उपलब्ध) न दृढ-प्रत्ययान् (पूर्ण सम्भावना से रहित) वाञ्छा-मात्र-परिग्रहान् अपि (मन की इच्छा व कल्पना मात्र से पकड़ी हुई वस्तुओं को भी) त्यक्तुं (त्यागने में) परं (बिल्कुल) न शक्ताः (समर्थ नहीं हैं) ।

अर्थ – ब्रह्मज्ञान के विवेक से जिनका चित्त शुद्ध हो चुका है, अहो! वे कितना कठिन कर्म किया करते है कि पूर्णतः कामनाशून्य होकर उपभोग करने योग्य धन-सम्पदा आदि का भी त्याग कर देते हैं; दूसरी ओर हम लोग पहले से अप्राप्त और वर्तमान में अनुपलब्ध, पूर्ण सम्भावना से रहित मन की कल्पना मात्र से पकड़ी हुई वस्तुओं को भी त्यागने में बिल्कुल भी समर्थ नहीं हैं ।

— भर्तृहरिकृत वैराग्यशतकम्, १३

सरस्वती-वन्दना

– १ –

(केदार - रूपक)

माँ भारती ! माँ भारती !
करुणामयी होकर जननि, तुम क्यों हमें न उबारती॥
बीती दुखद लम्बी निशा, नव रौशनी लेकर उषा,
इस मधुर मंगल लग्न में, तव पादपद्म पखारती॥
यह देश क्यों उद्भ्रान्त है, क्यों मृत्यु के सम शान्त है,
तुम क्यों न पौरुष को जगाकर आपदा से तारती॥
यह पंचदीपक देह है, उर में उमड़ता स्नेह है,
मन-प्राण की बाती जला, होगी तुम्हारी आरती॥

– २ –

(दरबारी कान्हरा-कहरवा)

वाणी भवभय हारिणी ।
ज्ञानालोक प्रसार हृदय में, भ्रान्ति-अशान्ति निवारिणी ॥
श्वेत हंस पर चिर आसीना, शुभ्र वसन कर शोभत वीणा,
सुमधुर सुर लहरी झंकृत कर, चिदानन्द संचारिणी ॥
आया शरण न देख और गति, अब करुणा कर अम्ब सरस्वति,
शुद्ध विमल अति हो मेरी मति, विषम भवोदधि तारिणी ॥
मोह शोक अज्ञान मिटा दे, उर में भक्ति शक्ति सरसा दे,
जीवन धन्य बना हम सबका, सकल सुमंगल कारिणी ॥

– विदेह

(कुमारी मेरी हेल को लिखित)

रिजले मॅनर,
३० अक्टूबर, १८९९

प्रिय आशावादिनी,

तुम्हारी चिट्ठी मिली और इसके लिए अनुग्रहीत हूँ कि किसी बात ने आशावादी एकान्तवाद को सक्रिय होने के लिए विवश किया है। यों तो तुम्हारे प्रश्नों ने नैराश्य के स्रोत को ही खोल दिया है। आधुनिक भारत में अंग्रेजी शासन का केवल एक ही सांत्वनादायक पक्ष है कि एक बार फिर उसने अनजाने ही भारत को विश्व के रंगमंच पर लाकर खड़ा कर दिया है, उसने बाह्य जगत् के सम्पर्क को इस पर लाद दिया है। अगर जनता के मंगल के लिए यह किया गया होता, तो जिस तरह परिस्थितियों ने जापान की सहायता की, भारत के लिए इसका परिणाम और भी आश्चर्यजनक होता। जब मुख्य ध्येय खून चूसना हो, कोई कल्याण नहीं हो सकता। मोटे रूप से जनता के लिए पुराना शासन अधिक अच्छा था, क्योंकि जनता से वह सब कुछ नहीं छीनता था और उसमें कुछ न्याय था, कुछ स्वतन्त्रता थी। कुछ सौ आधुनीकृत, अर्धशिक्षित एवं राष्ट्रीय चेतनाशून्य पुरुष ही वर्तमान अंग्रेजी भारत का दिखावा हैं – और कुछ नहीं। मुस्लिम इतिहासकार फरिश्ता के अनुसार १२वीं शताब्दी में ६० करोड़ हिन्दू थे – अब २० करोड़ से भी कम हैं।

भारत-विजय के लिए अंग्रेजों के संघर्ष के मध्य शताब्दियों की अराजकता, अंग्रेजों द्वारा १८५७-५८ में किये गये भयंकर जनसंहार और इससे भी भयावह अकालों, जो अंग्रेजी शासन के अनिवार्य परिणाम बन गये हैं (देशी राज्यों में कभी अकाल नहीं पड़ता) और उनमें लाखों प्राणियों की मृत्यु के बावजूद जनसंख्या में काफी वृद्धि होती रहती है; तो भी जनसंख्या उतनी नहीं है, जितनी देश की पूर्ण स्वतन्त्रता के समय अर्थात् मुस्लिम शासन के पूर्व थी। यदि भारतीयों की सारी वस्तुएँ उनसे छीन न ली जायँ, तो यहाँ के श्रम तथा उत्पादन के द्वावा वर्तमान से पाँचगुनी आबादी का भी सहज ही निर्वाह हो सकता है।

यह आज की स्थिति है – शिक्षा को भी अब अधिक नहीं फैलने दिया जायगा; प्रेस की स्वतन्त्रता का गला पहले ही घोंट दिया गया है, (निरस्त्र तो हम पहले से ही किये जा चुके हैं) और स्व-शासन का जो थोड़ा अवसर हमको पहले दिया गया था, शीघ्रतापूर्वक छीना जा रहा है। हम इन्तजार कर रहे हैं कि अब आगे क्या होगा! निर्दोष आलोचना में लिखे गये कुछ शब्दों के लिए लोगों को कालेपानी की सजा दी जा रही है, अन्य लोग

बिना मुकदमा चलाये जेलों में ठूँसे जा रहे हैं; और किसी को कुछ पता नहीं कि कब उनका सिर धड़ से अलग हो जायेगा।

कुछ वर्षों से भारत में आतंकपूर्ण शासन का दौर है। अंग्रेजी सिपाही हमारे देशवासियों का खून कर रहे हैं, हमारी बहनों को अपमानित कर रहे हैं – हमारे खर्च से ही यात्रा का किराया और पेन्शन देकर स्वदेश भेजे जाने के लिए! हम लोग घोर अंधकार में हैं – ईश्वर कहाँ है ? मेरी, तुम आशावादिनी हो सकती हो, लेकिन क्या मेरे लिए यह सम्भव है? मान लो तुम इस पत्र को केवल प्रकाशित भर कर दो – तो अभी अभी भारत में पारित हुए उस कानून का सहारा लेकर अंग्रेजी सरकार मुझे मार डालेगी। और मुझे यह मालूम है कि तुम्हारी सभी ईसाई सरकारें इस पर खुशियाँ मनायेंगी, क्योंकि हम गैरईसाई हैं। क्या मैं भी सोने चला जा सकता हूँ और आशावादी हो सकता हूँ? नीरो सबसे आशावादी मनुष्य था! समाचार के रूप में भी वे इन भीषण बातों को प्रकाशित करना नहीं चाहते, अगर कुछ समाचार देना आवश्यक भी हो तो 'रायटर' के संवाददाता ठीक उल्टा झूठा समाचार गढ़ कर देते हैं! एक ईसाई के लिए गैरईसाई की हत्या भी वैधानिक मनोरंजन है! तुम्हारे मिशनरी ईश्वर का उपदेश करने जाते हैं, लेकिन अंग्रेजों के भय से एक शब्द भी सत्य कह पाने का साहस नहीं कर पाते, क्योंकि अंग्रेज दूसरे दिन ही लात मारकर निकाल बाहर कर देंगे।

शिक्षा-संचालन के लिए पूर्ववर्ती सरकारों द्वारा दी गयी सम्पत्ति तथा जमीनों को हड़प लिया गया है और शिक्षा पर वर्तमान सरकार रूस से भी कम खर्च करती है। और शिक्षा भी कैसी? मौलिकता की जरा-सी अभिव्यक्ति भी दबा दी जाती है। मेरी, यदि वास्तव में कोई ऐसा ईश्वर नहीं है, जो सबका पिता है, जो दुर्बल की रक्षा करने में सबल से भयभीत नहीं है और जिसे रिश्वत नहीं दिया जा सकता, तो हमारे लिये सब कुछ निराशा ही है। क्या कोई ऐसा ईश्वर है ? समय ही बतायेगा।

हाँ तो, मैं कुछ सप्ताह में शिकागो आने की सोच रहा हूँ और इन विषयों पर सविस्तार बातें करूँगा इस समाचार के सूत्र को प्रकट न करना।

प्यार के साथ तुम्हारा भाई,

विवेकानन्द

पुनश्च - जहाँ तक धार्मिक सम्प्रदायों का प्रश्न है ब्राह्मसमाज, आर्यसमाज आदि व्यर्थ की खिचड़ी पकाते हैं। वे अंग्रेज मालिकों के प्रति कृतज्ञता की ध्वनियाँ मात्र हैं, ताकि साँस लेने की अनुमति मिल सकें। हम लोगों ने एक नये भारत का श्रीगणेश किया है और इस बात की प्रतीक्षा में हैं कि आगे क्या घटित होता है। हम तभी नये विचारों में आस्था रखते हैं, जब राष्ट्र उनकी माँग कता है और वही हमारे लिए सत्य हैं। ब्राह्मसमाजी के लिए उनके 'मालिक' का अनुमोदन ही सत्य की यह कसौटी है, परन्तु हमारे लिए सत्य वह है, जो भारतीय प्रज्ञा तथा अनुभूति द्वारा मण्डित है। संघर्ष आरम्भ हो गया है - हमारे और ब्राह्मसमाज के बीच नहीं, क्योंकि वे तो पहले से ही निष्प्राण हो चुके हैं, बल्कि इससे से कठिन एक गम्भीर व भीषण संघर्ष। - वि.

नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय

स्वामी आत्मानन्द

कृष्णयजुर्वेद के अन्तर्गत 'श्वेताश्वतर' नाम का उपनिषद आता है, जिसमें मानव-जीवन की समस्या का विचार और समाधान बड़ी ही काव्यमयी भाषा में किया गया है। जीवन में निहित सत्य की अनुभूति करनेवाले ऋषि हर्ष से उत्फुल्ल हो पुकार उठते हैं –

श्रुण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्राः।
आ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः॥ २/५
वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्।
आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वाति मृत्युमेति।
नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥ ३/८

– "हे अमृत के पुत्रगण! हे दिव्यधाम-निवासी देवताओ! सुनो, मैंने उस अनादि पुरातन पुरुष को पहचान लिया है, जो समस्त अज्ञान-अन्धकार और माया के परे है। केवल उस पुरुष को जानकर ही मनुष्य मृत्यु के चक्कर से छूट सकता है। इसके अतिरिक्त दूसरा कोई पथ है ही नहीं।"

वेद के इस मंत्र से चार बातें ध्वनित होती हैं। पहली यह कि हम अमृततनय हैं। दूसरी यह कि उस सत्य-स्वरूप परम-पुरुष की उपलब्धि की जा सकती है। तीसरी यह कि परम-पुरुष की उपलब्धि ही मनुष्य को मृत्यु-भय से बचाती है। और चौथी यह कि इसके अलावे कोई दूसरा रास्ता नहीं है।

स्वामी विवेकानन्द इस मंत्र पर विचार व्यक्त करते हुए कहते हैं – "हे अमृत के पुत्रगण!" – कैसा मधुर और आशाजनक सम्बोधन है यह! बन्धुओ, इसी मधुर नाम से मुझे तुमको पुकारने दो। "हे अमृत के अधिकारीगण" – सचमुच, हिन्दू तुम्हें पापी कहना अस्वीकार करता है। तुम ईश्वर की सन्तान हो, अमर आनन्द के भागीदार हो, पवित्र और पूर्ण आत्मा हो। तुम इस मर्त्य भूमि पर देवता हो। तुम भला पापी? मनुष्य को पापी कहना ही पाप है वह मानव स्वभाव पर घोर लांछन है। उठो! आओ। ऐ सिंहो! इस मिथ्या भ्रम को झटककर दूर फेंक दो कि तुम भेड़ हो। तुम शरीर नहीं हो। जड़ पदार्थ तो तुम्हारा गुलाम है, तुम उसके गुलाम नहीं। उक्त मंत्र वेदों की मूल बात हमारे समक्ष रखता है। वेद ऐसी घोषणा नहीं करते कि यह सृष्टि-व्यापार कतिपय भयावह, निर्दय अथवा निर्मम विधानों का प्रवाह है, और न यही कि वह कार्य-कारण का एक अच्छेद्य बन्धन है; वरन् वे घोषणा करते हैं कि इन सब प्राकृतिक नियमों के मूल में, प्रत्येक परमाणु तथा शक्ति के प्रत्येक स्पन्दन में ओतप्रोत वही एक पुराण-पुरुष विराजमान है, 'जिसके आदेश से वायु चलती है, अग्नि दहकती है, बादल बरसते हैं और मृत्यु पृथ्वी पर इतस्ततः नाचती है।'

मनुष्य तब तक डरता है, जब तक उसे सत्य का पता नहीं रहता। हम मृत्यु से क्यों डरते हैं? – इसलिए कि हमें मृत्यु के सत्य का पता नहीं। पर जब हम मृत्यु के उस सत्य को जान लेते हैं, तब भय खत्म हो जाता है। मृत्यु का यह सत्य क्या है? – पहला यह कि वह अनिवार्य है; ऐसा कोई व्यक्ति या पदार्थ नहीं है, जो मृत्यु का ग्रास न बनता हो। और दूसरा यह कि मृत्यु मानो जीवन का नवीनीकरण है। हम जीर्ण देह त्यागकर फिर से नयी देह पाते हैं। पुराने फटे कपड़े उतार कर नये कपड़े पहनने में भला किसे हर्ष नहीं होता? मृत्यु भी तो नये कपड़े पहनने की ही प्रक्रिया है। मृत्यु के सत्य के ये दो पक्ष हैं। जो इन दोनों पक्षों को अच्छी तरह से जान लेता है, वह मृत्यु से भागता नहीं अपितु उसका स्वागत करता है।

फिर मृत्यु के सत्य को जाननेवाला वस्तुतः स्वयं के ही सत्य को जान लेता है। वह अनुभव करता है कि उसका स्वरूप मर्त्य नहीं, दिव्य है और समस्त अज्ञान-अन्धकार से परे है। अपने स्वरूप को न जानने के कारण ही वह अब तक मृत्यु से डरता था, अपने को पापी समझता था। पर अपने स्वरूप का बोध उसे प्रतीति करा देता है कि मृत्यु शरीर की होती है, वह तो शरीर और मन से परे वह आत्मतत्त्व है, जो सूर्य से भी अनन्तगुना प्रभावान है। मृत्यु-भय केवल आत्मबोध से ही दूर होता है, उसके लिए अन्य कोई रास्ता नहीं है।

वेदों का यह बल तथा प्रकाश का सन्देश हमारी जड़ता को दूर करेगा और हमारे भीतर स्थित आत्मबल में वृद्धि करेगा। आज के तनावग्रस्त मानव को आत्मबल की महती आवश्यकता है। आत्मबल हमारे मनोबल को बढ़ाता है। इसीलिए वेद –**आत्मानं विजानीहि** – का सन्देश प्रदान करते हैं। वेद कहते हैं कि यह आत्मज्ञान देवताओं तक को नहीं, बल्कि केवल मनुष्यों को ही सुलभ है। आत्मज्ञान पाने के लिए देवताओं को भी मर्त्यलोक में आकर मनुष्य बनना पड़ता है। तभी तो कहा है – **न हि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किंचित्** – मनुष्य से श्रेष्ठ अन्य कोई योनि नहीं है। ◻

स्वयं को जानो

तुम्हें कौन दुर्बल बना सकता है? तुम्हें कौन भयभीत कर सकता है? जगत में तुम्हीं तो एकमात्र सत्ता हो। अतएव उठो और मुक्त हो जाओ। मनुष्य को दुर्बल और भयभीत बनानेवाला संसार में जो कुछ है, वही पाप है और उसी से बचना चाहिए। तुम्हें कौन भयभीत कर सकता है? यदि सैकड़ों सूर्य पर्वत पर गिर पड़ें, सैकड़ों चन्द्र चूर चूर हो जायँ, एक के बाद एक ब्रह्माण्ड विनष्ट होते चले जाएँ, तो भी तुम्हारे लिए क्या ? पर्वत की भाँति अटल रहो; तुम अविनाशी हो। तुम आत्मा हो, तुम्हीं जगत के ईश्वर हो। कहो, "शिवोऽहं, शिवोऽहं, मैं पूर्ण सच्चिदानन्द हूँ।" पिंजड़े को तोड़ डालनेवाले सिंह की भाँति तुम अपने बन्धन तोड़कर सदा के लिए मुक्त हो जाओ। — ***स्वामी विवेकानन्द***

श्रीरामकृष्ण-वचनामृत-प्रसंग

(छियासठवाँ प्रवचन - उत्तरार्ध)

स्वामी भूतेशानन्द

(रामकृष्ण संघ के भूतपूर्व महाध्यक्ष स्वामी भूतेशानन्दजी महाराज ने पहले बेलूड़ मठ और तदुपरान्त रामकृष्ण योगोद्यान, कलकत्ता में 'कथामृत' पर बँगला में जो धारावाहिक प्रवचन दिये थे, वेसंकलित होकर छह भागों में प्रकाशित हुए हैं। इसकी उपादेयता को देखते हुए हम भी इसे धारावाहिक रूप से यहाँ प्रकाशित कर रहे हैं। अनुवादक हैं श्री राजेन्द्र तिवारी, जो सम्प्रति श्रीराम सगीत विद्यालय, रायपुर में अध्यापक हैं। – सं.)

त्याग ही आदर्श है

पुन: गृहस्थाश्रम का प्रसंग उठा। श्रीरामकृष्ण भक्तों से कहते हैं, "बात यह है, संसार करने पर मन की शक्ति का अपव्यय होता है। इस अपव्यय से जो हानि होती है वह तभी पूरी हो सकती है जब कोई संन्यास ले। पिता प्रथम जन्मदाता है। उसके बाद द्वितीय जन्म उपनयन के समय होता है। एक बार फिर जन्म होता है, संन्यास के समय।" संन्यास का अर्थ है – सर्वत्याग। सर्वत्याग का यह अर्थ नहीं कि सबको संन्यास लेना होगा, परन्तु त्याग सभी को करना होगा। ठाकुर ने इस विषय में कभी समझौता नहीं किया। तथापि पात्रता की दृष्टि से त्याग का पार्थक्य है। कोई कोई मन से तथा बाहर से – दोनों प्रकार का त्याग करेंगे और जो नहीं कर सकेंगे, वे केवल मन से त्याग करेंगे। ठाकुर ने उनके लिए बाह्य त्याग को आवश्यक कर्तव्य नहीं बताया। अत: त्याग के विषय में सन्देह की कोई बात नहीं है। सम्-न्यास का अर्थ है पूर्ण त्याग – जब यह होता है, तब इसे 'संन्यास' कहते हैं। चाहे जैसे भी हो, इस सर्वत्याग के आदर्श को स्वीकार किये बिना कोई भगवान के पथ पर अग्रसर नहीं हो सकता।

ऐसा दृष्टान्त दुर्लभ है जहाँ संसार में रहते हुए भी कोई भगवान के लिए सर्वत्यागी हुआ हो। और जिन्होंने बाहर से त्याग किया है, उनमें भी कितने ऐसे हैं, जो भीतर-बाहर से पूर्णरूपेण त्याग में प्रतिष्ठित हों? वस्तुत: चाहे कोई गृहस्थ हो या संन्यासी, चित्त शुद्ध हुए बिना, ज्ञान में प्रतिष्ठित हुए बिना, कोई कभी-भी पूर्ण त्याग नहीं कर सकता। गृहस्थ हो या संन्यासी, सभी उस अवस्था में पहुँचने का प्रयास मात्र कर रहे हैं। अन्तर केवल इतना ही है कि गृहस्थ संसार के भीतर रहकर और संन्यासी संसार से बाहर जाकर यह प्रयास कर रहा है, लेकिन दोनों ही साधक हैं। सिद्ध दोनों में कम ही मिलते हैं। गृहस्थ हो या संन्यासी, सिद्ध-अवस्था में दोनों ही उसी एक तत्व में प्रतिष्ठित हैं और वहाँ कोई पार्थक्य नहीं है। स्वामीजी ने अपने 'कर्मयोग' ग्रन्थ में कहा है कि आदर्श गृही तथा आदर्श योगी – दोनों एक हैं, तथापि अन्तर केवल इतना है कि साधना के उनके मार्ग थोड़े भिन्न हैं।

गुरुवाक्य में विश्वास

दशहरे के दिन श्रीरामकृष्ण दक्षिणेश्वर में भक्तों से घिरे हुए बैठे हैं। भक्तों से कह रहे हैं, "साधना की बड़ी आवश्यकता है। फिर क्यों नहीं होगा? यदि ठीक ठीक विश्वास हो, तो

अधिक परिश्रम नहीं करना पड़ता । चाहिए गुरु के वचनों पर विश्वास ।'' व्यासदेव का दृष्टान्त देकर कहते हैं, ''व्यासदेव यमुना के उस पार जायेंगे; इतने में वहाँ गोपियाँ आयीं । वे भी पार जायेंगी, पर नाव नहीं मिलती । गोपियों ने कहा, 'महाराज, अब क्या किया जाय?' व्यासदेव ने कहा, 'अच्छा, तुम लोगों को पार किये देता हूँ; पर मुझे बड़ी भूख लगी है, तुम्हारे पास कुछ है?' गोपियों के पास दूध, दही, मक्खन आदि था; सब कुछ उन्होंने खाया । गोपियों ने कहा, 'महाराज, अब पार जाने का क्या हुआ?' व्यासदेव तब किनारे पर जाकर खड़े हुए और कहने लगे, 'हे, यमुने, यदि आज मैंने कुछ नहीं खाया हो तो तुम्हारा जल दो भागों में बँट जाय!' यह कहते ही जल अलग-अलग हो गया ।'' अर्थात मैं कर्ता नहीं हूँ, बल्कि कर्ता-भोक्ता भगवान स्वयं है । जीव अल्पबुद्धि होने के कारण अपने आपको कर्ता-भोक्ता समझ बैठता है । ज्ञानी देखते हैं कि ईश्वर स्वयं अपना कर्म करते हैं और स्वयं ही उसका फल भोगते हैं । उपनिषद कहते हैं – उन्हें छोड़कर अन्य कोई श्रोता नहीं, अन्य कोई मननकर्ता नहीं है, आदि । जो कुछ कर्म हो रहा है, जो भोग हो रहा है, सब उन्हीं के द्वारा हो रहा है, क्योंकि अन्य कोई है ही नहीं । उन्हीं के चैतन्य से जगत चैतन्यमय है । वही चैतन्य अन्यत्र व्यक्त होकर उस वस्तु को चेतन कर रहा है ।

वेदान्त में एक दृष्टान्त दिया जाता है, एक लोहा आग में गरम हुआ है । शरीर पर लगाने से लगता है कि लोहा जला रहा है । वास्तव में लोहा नहीं जलाता, लोहे के भीतर जो अग्नि है, वह जलाती है, जिसे हम देख नहीं पा रहे हैं । हम केवल लोहा देखते हैं और सोचते हैं कि यह लोहा ही जलता है । इसी प्रकार कर्तृत्व आदि जो कुछ हो रहा है, जीव के शरीर-मन से जो कुछ हो रहा है, हम समझते हैं कि वह सब हम कर रहे हैं, परन्तु हमारे भीतर जो चैतन्य-शक्ति है, उसी के द्वारा नियंत्रित होकर सब हो रहा है । हम स्वयं को उस चैतन्य-शक्ति से पृथक नहीं कर पा रहे हैं । अथवा हम स्वयं को इस शरीर आदि से पृथक करके उस चैतन्य-शक्ति के रूप में बोध नहीं कर पा रहे हैं । इसीलिए हमें भ्रम होता है कि 'मैं कर्ता हूँ' या 'मैं भोक्ता हूँ' । स्मरण रखना होगा कि शास्त्र की बातें केवल पढ़ लेने या कण्ठस्थ कर लेने से काम नहीं होगा, बल्कि उनमें विश्वास होना चाहिए । कभी कभी हम लोग मुँह से बोलते हैं या सोचते हैं कि मुझे भगवान पर विश्वास है, परन्तु यह सच्चा विश्वास नहीं है, अन्यथा हमारा आचरण भी उसी विश्वास के अनुरूप होता । दुख में हम क्यों आहें भरने लगते हैं और सुख में क्यों होश खो बैठते हैं? कारण यह है कि हम स्वयं को कर्ता-भोक्ता समझते हैं, इसीलिए सुख-दुःख आदि से अभिभूत हो जाते हैं । इससे यह सिद्ध होता है कि हम मुख से बोलते अवश्य हैं कि विश्वास है, परन्तु वास्तव में विश्वास नहीं करते । गीता (५/६) में भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं – **नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्ववित्** – तत्वज्ञ लोग जानते हैं कि वे कुछ नहीं करते । वे कर्म भी नहीं करते और कर्मफल का भोग भी नहीं करते । वे शुद्धात्मा हैं । इन बातों की केवल आवृत्ति करने से नहीं होगा, इन पर दृढ़ विश्वास रखना होगा । इनकी धारणा करनी होगी ।

दृष्टान्त के रूप में ठाकुर चाण्डाल-शंकराचार्य तथा जड़भरत का प्रसंग बताते हैं । उक्त दृष्टान्त में है कि जो ज्ञान में प्रतिष्ठित है, वह स्वयं को कभी-भी देह आदि नहीं समझता । शास्त्र कहते हैं – ''यह जो देह-मन-इन्द्रिय आदि को हम 'मैं' समझते हैं, ये सभी उस

चैतन्य द्वारा परिचालित हुए बिना कुछ नहीं कर पाते। चैतन्य में अधिष्ठित होकर ही ये समस्त जड़ वस्तुएँ क्रियाशील हैं। इसलिए जब हम इन जड़ वस्तुओं के साथ एकत्व बोध करते हैं, तब उस चैतन्य को भूल जाते हैं।

जीव तथा ब्रह्म की अभिन्नता

अब ठाकुर कहते हैं, "सोऽहं। मैं शुद्ध आत्मा हूँ – यह ज्ञानियों का मत है। भक्त कहते हैं, यह सब भगवान का ऐश्वर्य है। धनी का ऐश्वर्य न होने से उसे कौन जान सकता है?" 'भग' का अर्थ ऐश्वर्य है। जो षडैश्वर्ययुक्त हैं, उन्हें भगवान कहते हैं। शास्त्र में है –

ऐश्वरस्य समग्रस्य वीर्यस्य यशसः श्रियः।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इति स्मृतम्॥ (वि. पु. ४.५.३४)

– ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान एवं वैराग्य – इन छः की समष्टि को 'भग' कहते हैं और जिनका यह है, उन्हें 'भगवान' कहते हैं। शंकराचार्य के नाम पर प्रचलित एक श्लोक है –

सत्यापि भेदापगमे नाथ तवाहं न मामकीनस्तवं।
सामुद्रो हि तरंगः नैव कदाचित् समुद्रस्तारंगः॥ (श्रीविष्णुषट्पदी)

– भेद दूर हो जाने पर भी, हे प्रभो, मैं ही तुम्हारा हूँ, तुम मेरे नहीं। यहाँ 'तुम मेरे नहीं' कहने का अभिप्राय यह है कि मैं क्षुद्र हूँ, तुम विशाल हो और मैं तुम्हारे भीतर हूँ। तुम मेरे भीतर हो – ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि जो विशाल है वह क्षुद्र में समाहित नहीं होता। समुद्र की तरंग होती है, परन्तु तरंग का समुद्र नहीं होता। जब हम कहते हैं – 'मैं वही हूँ', उस समय याद रखना होगा कि यह क्षुद्र जीव, उस विशाल समुद्र या आकाश के समान परमेश्वर-स्वरूप या ब्रह्मस्वरूप नहीं है। 'मैं' और उस परमेश्वर के बीच अगर कोई विरुद्ध धर्म रहे, तो फिर दोनों अभिन्न नहीं हो सकते। इसलिए इन दोनों शब्दों का तात्पर्य समझ लेने के बाद ही उनमें अभेद स्वीकार करना होगा। पहले से अभेद स्वीकार कर लेना ठीक नहीं। क्यों ठीक नहीं? इसलिए कि अभिन्नता रूप अदृष्ट-तत्त्व के निष्कर्ष को दृष्ट भेद के द्वारा स्वीकार नहीं किया जा सकता। इसमें दृष्टि का विरोध होता है। यदि कोई कहे कि यह दीवार नहीं है, परन्तु दीवार को तो हम प्रत्यक्ष देख रहे हैं। तब इस प्रत्यक्ष को युक्ति के द्वारा उड़ा देना तर्कविरुद्ध बात है, क्योंकि दीवार को तो मैं प्रत्यक्ष देख रहा हूँ। इसलिए कहा जाता है कि प्रत्यक्ष बलवान होता है। अनुमान उसकी अपेक्षा दुर्बल है। प्रत्यक्ष के द्वारा अनुमान निरस्त हो सकता है, किन्तु अनुमान के द्वारा प्रत्यक्ष निरस्त नहीं हो सकता। यही सिद्धान्त है और इसी के द्वारा विचार करके देखना होगा।

श्रुति में शायद कहीं कहा गया है कि पानी पर पत्थर तैर रहा है। अब पानी पर पत्थर तैरते हैं या नहीं, इसे हम प्रत्यक्ष के द्वारा समझ सकते हैं। यह हम प्रत्यक्ष देखें कि पत्थर पानी के ऊपर तैर रहा है, तब कहेंगे कि हाँ, यह बात ठीक है। परन्तु यदि अगर ऐसा नहीं हुआ तो क्या हम श्रुति-वाक्य को मिथ्या कहेंगे? हम ऐसा नहीं कह सकते। तब समझना होगा कि अवश्य ही इस उक्ति के पीछे कोई अन्य तात्पर्य निहित है। जैसा कि दृष्टान्त दिया जाता है – एक बालक मिठाई खाना चाहता है। माँ कहती है – खा ले, जहर खा ले। यहाँ मनुष्य का मन विचार करेगा कि एक स्नेहमयी माँ भला अपनी सन्तान को विष खाने के लिए कैसे कह सकती है? तो फिर इस उक्ति का कोई अन्य अर्थ होगा। बच्चा भी समझ

लेता है कि माँ ने जो कहा, इसका अर्थ नहीं कि यह मिठाई जहर है और माँ मुझे यह जहर खाने को कह रही है । दोनों ही बातें सत्य नहीं हैं । तो फिर माँ का अभिप्राय क्या है? यह कि ये चीजें तुम्हारे लिए विष के समान हानिकारक हैं, अत: इन्हें मत खाओ । हम सहज भाव से ऐसा ही अर्थ लगाते हैं ।

शास्त्र कहते हैं कि तुम्हीं ब्रह्म हो, परन्तु जब मैं प्रत्यक्ष देखता हूँ कि मैं अल्पज्ञ, सीमित और साढ़े तीन हाथ का एक साधारण मनुष्य हूँ, तब मैं भला कैसे वह सर्वव्यापी परम ब्रह्म हो सकता हूँ? अत: यहाँ हम स्पष्ट देखते हैं कि प्रत्यक्ष के साथ श्रुति का विरोध दिख रहा है । प्रत्यक्ष रूप से अर्थ प्रकट न होने पर हमें अन्य प्रकार से उसका अर्थ समझना होगा । क्या समझना होगा? पहले तो यह देखना होगा कि जब कहा गया कि 'तुम ब्रह्म हो' तब उस 'तुम' का क्या अर्थ है और 'ब्रह्म' का क्या अर्थ है? 'तत्त्वं असि' – तुम्हीं वह ब्रह्म हो, अर्थात तुम्हारे साथ ब्रह्म का अभेदत्व है – यहाँ प्रत्येक शब्द को समझने के लिए विचार करने की आवश्यकता है । इस विचार को कहा गया 'तत्-त्वम्'- पदार्थ का विचार । यह विचार करते-करते 'तत्-त्वम्'-पदार्थ का शोधन होता है । 'तत्'-पदार्थ का शोधन करके उससे विरोधी अंश को अलग करना होगा । 'त्वम्'-पदार्थ का शोधन करके उसके विपरीत अंश को अलग करना होगा । तब दोनों पदार्थों के अविरुद्ध भाव को अभेद-रूप में समझना होगा। ये दोनों पदार्थ अभेद हो सकते हैं – यह शास्त्र का सिद्धान्त है । कैसे? जैसे कहते हैं – यह सर्प नहीं रस्सी है । यह रस्सी है अर्थात, जो वस्तु प्रत्यक्ष दिखाई दे रही है, वह रस्सी के आकारवाली एक वस्तु है, जिसे हम साँप समझ रहे हैं । 'यह' शब्द का तात्पर्य प्रत्यक्ष वस्तु से है । और जब हम उसे रस्सी कहते हैं, तब वह रस्सी हमारी अनुभूत वस्तु हुई, जिसके द्वारा बन्धन आदि कार्य होता है । इन दोनों वस्तुओं को जब हम अभिन्न कहते हैं, तब रस्सी एक वस्तु और साँप दूसरी वस्तु है । वे दोनों अभिन्न कैसे होंगे? उनके विरुद्ध अंश को अलग करना होगा । विरुद्ध अंश क्या है? विरुद्ध अंश हुआ साँप का विषैलापन। साँप काटने से मनुष्य मर जाता है और सामने की वस्तु काटती नहीं । काटने पर भी मनुष्य मरता नहीं । अत: उसके जो विरुद्ध अंश हैं, उन्हें अलग कर देने पर रस्सी मात्र अवशिष्ट रह जाती है । रस्सी लम्बी और थोड़ी टेढ़ी-मेढ़ी है । इन दोनों गुणों की दृष्टि से रस्सी तथा साँप – दोनों एक ही प्रकार के है, जिनके कारण उनमें तादात्म्य हो गया है ।

अब 'मैं ब्रह्म हूँ' – इन शब्दों पर विचार करके हम देखेंगे कि इन दोनों के अविरुद्ध अंश में ऐक्य कहाँ है । शुद्ध चैतन्य इनका अविरुद्ध अंश है । 'मैं' पर विचार करते करते हम शुद्ध चैतन्य में ही पहुँचते हैं । जगत के स्रष्टा तथा संहर्ता 'ब्रह्म' पर विचार करते करते विरुद्ध अंश को हटाने पर देखने में आता है कि वहाँ भी केवल शुद्ध चैतन्य ही बच रहता है, क्योंकि जगत का कर्तृत्व आदि गुण ही ब्रह्म को एक विशिष्ट रूप दे रहे हैं । उस विशिष्ट रूप में वे कभी हमारे साथ अभिन्न नहीं हो सकते । मैं क्षुद्र व्यक्ति हूँ, वे सर्वशक्तिमान हैं, अत: हम कभी ब्रह्म के साथ अभेद नहीं हो सकते । अत: विचार करते करते विरुद्ध अंश को छोड़ना ही 'तत्-त्वम्'-पदार्थ का शोधन कहलाता है । विचार करते हुए दोनों पदों के अर्थ का शोधन करना, विरुद्ध अंशों को उनसे अलग करना और इतना करने के बाद जो कुछ अवशिष्ट रह जाता है, वही शुद्ध चैतन्य है । हमारे भीतर भी जो शुद्ध चैतन्य रहता है,

वही शुद्ध चैतन्य ब्रह्म के भीतर भी रहता है । बाकी सभी अंश विरोधी हैं । इन समस्त विरोधी अंशों का परित्याग करने के बाद शुद्ध चैतन्य अंश में वे अभेद हैं । 'मैं ब्रह्म हूँ' – इस वाक्य से यही अर्थ निकलता है । ऐसा न करके यदि कोई कहे – 'मैं ब्रह्म हूँ', तो वह स्वयं को या फिर दुनिया को धोखा दे रहा है । वह किसी भी दृष्टि से ब्रह्म नहीं है ।

जब हम कहते हैं – **गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णु गुरुर्देवो महेश्वरः गुरुरेव परं ब्रह्म'** – तब वे गुरु कौन हैं? गुरु का अर्थ क्या यह है कि अमुक शर्मा, जिन्होंने मुझे दीक्षा दी है? क्या वे ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर और परम ब्रह्म हैं? क्या वे नित्य हैं? वे क्या सौ-पचास वर्ष बाद रहेंगे? क्या वे अपने जन्म के पहले भी थे? ये सारे विचार मन में उठेंगे । तब विचार करने पर समझ में आयेगा कि गुरु कहने का तात्पर्य अमुक शर्मा से नहीं, बल्कि उनके भीतर निहित भागवती सत्ता से है । इसी को वस्तु-शोधन कहते हैं । किसी वस्तु का आपात दृष्टि से हम जो अर्थ ग्रहण करते हैं, वैसा न करके शास्त्र के सिद्धान्त से मिलाकर ग्रहण करने के लिए उसके विरुद्ध अंशों को छोड़कर बाकी अंशों को लेना होता है । मानव रोग-शोक तथा जरा-मृत्यु से ग्रस्त है । उसकी उत्पत्ति है और लय भी है, ऐसे मानव के साथ ब्रह्म की अभिन्नता नहीं होती । अतः गुरु को जब परमेश्वर कहा जाता है, तब उनके मानवीय गुणों को अलग करके उनके भीतर जो चैतन्य-सत्ता है, उसी दृष्टि से उन्हें गुरु कहा जाता है ।

इसीलिए ठाकुर कहते हैं, "सच्चिदानन्द ही गुरु है ।" बहुधा इसे समझने में हमसे भूल हो जाती है । हम सोचते हैं कि मनुष्य-गुरु ही सब कुछ हैं, उन्हीं को परमेश्वर तथा परम ब्रह्म कहा जा रहा है । इतनी बड़ी झूठी बात शास्त्र भला क्यों कहेंगे? तो फिर किस कारण से गुरु के प्रति ऐसी दृष्टि रखने को कहा? इसलिए कि मानव-मन को किसी एक अवलम्बन की सहायता से अग्रसर कराना होगा, किसी मनुष्य के सहारे ही उसे आगे बढ़ाना होगा । वही मनुष्य परमेश्वर का प्रतीक हुआ, जिसके माध्यम से वह उस परमेश्वर की धारणा करने का प्रयत्न करता है । धारणा करते समय अपने गुरु तथा परमेश्वर से विरुद्ध अंशों को मन से हटाकर केवल अविरुद्ध अंश को ही ग्रहण करना होगा और उसी को 'गुरुः साक्षात् परब्रह्म' कहा गया है । इसीलिए कहा गया है कि गुरु में मनुष्य-दृष्टि नहीं लानी चाहिए । क्यों नहीं लानी चाहिए? जो वस्तु जैसी है, उसे वह न कहना तो बातुलता मात्र है । इसका उत्तर यह है कि हम इस मानव-रूप प्रतीक का सहारा लेकर क्रमशः उस परम सत्य तक पहुँच सकते हैं । इसी कारण उस परम सत्य तक पहुँचने के लिए एक आश्रयरूप अथवा प्रतीकरूप इस मानव का अवलम्बन करना पड़ रहा है । शास्त्र इसी बात को समझाने के लिए गुरु को ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर तथा परम ब्रह्म कहते हैं । हम इन बातों पर विचार न करके समझते हैं कि मनुष्य-गुरु ही सब हैं, मनुष्य-गुरु ही ईश्वर हैं । नहीं, वे मनुष्य नहीं हैं । तथापि मनुष्य-गुरु पर श्रद्धा रखकर, वे जिस वस्तु के प्रतीक हैं, क्रमशः उसी में मन को लगाना पड़ता है । इसलिए इन सिद्धान्तों को इस प्रकार बताया जाता है ।

ठीक यही बात इन्द्र-विरोचन प्रसंग में भी है । दोनों ने ही प्रजापति के उपदेश का भिन्न भिन्न अर्थ निकाला । इन्द्र को आत्मज्ञान मिला, परन्तु विरोचन को नहीं मिला । 'तुम्हीं ब्रह्म हो' या 'मैं ही ब्रह्म हूँ' कहने में समस्या यह है कि हम बहुधा भ्रान्तिवश अपने भीतर ही वह सत्ता है, ऐसा समझकर निश्चिन्त हो जाते हैं । इसमें निश्चिन्त होने का कुछ भी नहीं है । हमें

अपने भीतर उस ब्रह्मसत्ता का साक्षात्कार करना होगा, तभी हम वैसी बातें कह सकेंगे। चौबीसों घण्टे यही बोध हो रहा है कि यह शरीर ही मैं हूँ और मुख से कहूँगा कि 'मैं वही ब्रह्म हूँ', इसकी कोई सार्थकता नहीं है, इसीलिए ठाकुर ने यह बात विशेष रूप से कही। अत: ऐसा समझना होगा कि मैं तुम्हारा हूँ, तुम मेरे नहीं। जैसा कि उन्होंने दृष्टान्त देकर कहा – **सामुद्रो हि तरंग: क्वचन समुद्रो न तारंग:** – तरंग समुद्र का अंग है। समुद्र एक विशाल वस्तु है, जिसके एक लघु अंश को तरंग कहते हैं और तरंग का समुद्र नहीं होता। इसी दृष्टि से कहते हैं – मैं तुम्हारा हूँ, तुम मेरे नहीं हो – **सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाहं न मामकीनस्तवम्।**

शंकराचार्य के उक्त स्तोत्र में भक्ति और ज्ञान का सुन्दर सामंजस्य है। कुछ लोग कहते हैं कि यह स्तोत्र प्रक्षिप्त है, कट्टर ज्ञानी शंकराचार्य क्या ऐसी भक्तिपूर्ण बात कह सकते हैं? मनुष्य का स्वभाव है कि वह जिस अवस्था में रहता है, सर्वत्र उसी का समर्थन देखना चाहता है, अत: शायद शंकर से भी वैसे ही समर्थन की अपेक्षा के कारण सम्भव है कि किसी ने इस स्तोत्र की रचना करके उसके साथ शंकर नाम जोड़ दिया हो। अगर यह सचमुच ही शंकर की कृति हो, तब तो कोई बात ही नहीं है। रचना चाहे जिसकी भी हो, यह तो हम भलीभाँति समझ सकते हैं कि 'ईश्वर' असीम है और 'मैं' सीमित है। असीम के भीतर ससीम रह सकता है, परन्तु ससीम के भीतर असीम कभी नहीं समाता।

निस्तरंग मन और शुद्ध आत्मा

इसके बाद ठाकुर कहते हैं, "बात यह है कि मन स्थिर न होने से योग नहीं होता, तुम चाहे जिस राह से चलो।।" ज्ञान, भक्ति अथवा कर्म – चाहे जिस मार्ग से भी जाओ, मन को स्थिर करना ही लक्ष्य है। इसके बाद उस स्थिर मन में तत्त्व अपने-आप ही प्रस्फुटित हो उठेगा। स्थिर होते ही मन संकल्प-विकल्प रहित हो जायेगा और इसके साथ ही उसकी सारी अशुद्धियाँ दूर हो जायेंगी। जैसे शुद्ध जल के भीतर की वस्तु स्पष्ट दिखाई देती है अथवा जैसे शुद्ध जल का प्रतिबिम्ब भी शुद्ध होता है, वैसे ही मन के शुद्ध तथा स्थिर होने पर उसका योग हो जाता है अर्थात वहाँ आत्मतत्व का प्रतिबिम्ब दिखता है। तब वह सत्य के स्वरूप का अनुभव कर सकता है। यही बात ठाकुर ने यहाँ पर कही, "मन योगी के वश में रहता है, योगी मन के वश में नहीं।" हम साधारण लोग चंचल मन के वशीभूत होकर इधर-उधर दौड़-धूप कर रहे हैं। मन हमें निरन्तर घुमा रहा है। इसी मन को शान्त करके, संयत करके, उसकी तरंगों को स्तब्ध करके यदि कोई मन को स्थिर कर सके, तो उसी स्थिर मन को हम शुद्ध-मन या शुद्ध-बुद्धि कहेंगे। तब उसके साथ शुद्ध-आत्मा अभिन्न हो जाएगी। शुद्ध बुद्धि और शुद्ध आत्मा एक है। परन्तु साधारण मन की अवस्था ऐसी नहीं है, इसीलिए वहाँ पर शुद्ध आत्मा कभी प्रतिबिम्बित नहीं होती।

उसके बाद वे योग के विषय में कहते हैं, "मन स्थिर होने पर वायु स्थिर होती है – कुम्भक होता है।" वायु स्थिर होना या श्वास-प्रश्वास बन्द हो जाना – इस विषय को हम थोड़ा विचार करके समझने की चेष्टा करेंगे। आधुनिक शरीर-विज्ञान कहता है कि हमारी देह में कितनी ही ऐसी क्रियाएँ हैं, जिन्हें हम अपनी इच्छा के अनुसार नियंत्रित नहीं करते, यथा श्वास-प्रश्वास। यह अपने-आप हो रहा है। इसे चलाने के लिए प्रयास नहीं लगता।

परन्तु जब हमारा मन स्थिर होता है, तब यह श्वास-प्रश्वास तक बन्द हो जाता है । इससे क्या समझ में आता है? यही कि मन की थोड़ी सहायता के बिना श्वास-प्रश्वास भी नहीं चलता । यद्यपि शरीर-विज्ञानी कहते हैं कि ये सब involuntary या अनैच्छिक क्रियाएँ हैं अर्थात इन पर हमारा मन या बुद्धि कोई क्रिया नहीं करती । परन्तु हमारे अनजाने ही उसमें इनका थोड़ा अंश रह जाता है, जिसके द्वारा श्वास-प्रश्वास चलता है । मन के शुद्ध होने पर श्वास-प्रश्वास भी बन्द हो जाता है । इस अवस्था को 'कुम्भक' कहते हैं । कहा गया है कि कुम्भक दो प्रकार से होता है । एक तो किसी लौकिक कारण से मन स्थिर हो जाने पर कुम्भक हो जाता है और दूसरा है मन को स्थिर करने के लिए कुम्भक का अभ्यास करना । दो अलग-अलग रास्ते हैं, किन्तु लक्ष्य एक है । तथापि ठाकुर का कहना है कि केवल कुम्भक के फलस्वरूप यदि मन निस्तरंग हुआ है, तो वह अवस्था उतनी ही देर के लिए है जब तक कुम्भक हुआ है । कुम्भक से उतर आने के बाद मन फिर से ज्यों-का-त्यों हो जाता है । ठाकुर ने एक दृष्टान्त दिया है – जादू दिखाते हुए बाजीगर की जीभ तालु में चले जाने से उसे कुम्भक हो गया । वह अचेत हो गया और बाहर से उसमें जीवन के कोई लक्षण नहीं दिख रहे थे । इसी तरह बहुत दिन बीते और सबने उसे मृत समझ लिया । बहुत दिनों बाद वहाँ जंगल हो गया । एक बार जंगल साफ करते समय दिखाई पड़ा कि वहाँ एक शव-जैसा पड़ा है । हिलाने-डुलाने पर उसकी जीभ तालु से अलग हो गई और वह उठ बैठा । उठते ही कहने लगा, 'राजा रुपया दो, राजा कपड़ा दो ।' अर्थात उस कुम्भक से उसके मन की कोई उन्नति नहीं हुई । इसलिए मन को केवल स्थिर करना ही लक्ष्य नहीं है । लक्ष्य है स्थिर मन से भगवान का चिन्तन करना । जब कुम्भक होकर मन स्थिर होता है तब उस मन से भगवान का चिन्तन भी नहीं किया जा सकता । चिन्तन करने की शक्ति नहीं रहती ।

अत: मन को स्तब्ध कर देना ही लक्ष्य नहीं है । वैसे योगीगण कहते हैं कि 'चित्तवृत्ति का निरोध' ही योग है । परन्तु उस निरुद्ध चित्तवृत्ति का क्या लाभ होगा? योगशास्त्र कहेगा कि चित्तवृत्तियों के स्थिर हो जाने पर मन को करने के लिए कुछ भी नहीं रह जाता, वह समस्त कर्मों के बन्धन से मुक्त हो जाता है । ज्ञानी कहते हैं – केवल चित्त के स्थिर हो जाने से कुछ नहीं होगा, बल्कि उस स्थिर चित्त को ब्रह्मानुभूति में लगाना होगा । इस विषय में क़ई मत हैं, परन्तु हमें चिन्तित होने ही जरूरत नहीं, क्योंकि मन को स्थिर करना और उसे ब्रह्मज्ञान में नियुक्त करना, ये दोनों ही अभी हमारे लिए दूर की बाते हैं, परन्तु प्रयास करते रहना होगा । इसीलिए वे कहते हैं कि मन को स्थिर करना होगा ।

उसके बाद कहते हैं, "वह कुम्भक भक्तियोग में भी होता है, भक्ति से वायु स्थिर हो जाती है । 'मेरा निताई मस्त हाथी है!' 'मेरा निताई मस्त हाथी है!' – यह कहते-कहते जब भाव हो जाता है, तब वह मनुष्य पूरा वाक्य नहीं कह सकता, केवल 'हाथी है' 'हाथी है' कहता है । इसके बाद सिर्फ 'हा –' इतना ही! भाव से वायु स्थिर होती है, और उससे कुम्भक होता है ।" एक अन्य दृष्टान्त देते हैं – "औरतों में नहीं देखा – यदि कोई निर्वाक् होकर सुने तो दूसरी औरतें उससे कहती हैं, 'क्यों, क्या तुझे भाव हुआ है?"

फिर कहते हैं – जीव चार प्रकार के कहे गये हैं – बद्ध, मुमुक्षु, मुक्त और नित्य । कोई अनेक साधनाएँ करने पर ईश्वर को पाता है; कोई जन्म से ही सिद्ध है, जैसे प्रह्लाद । भक्ति

के साथ ही उनका जन्म हुआ था। साधना के पहले ही उन्हें ईश्वर-प्राप्ति हो गयी थी। "लौकी, कुम्हड़े का पहले फल और उसके बाद फूल होता है। नीच वंश में भी यदि नित्यसिद्ध जन्म ले तो वह वही होता है, दूसरा कुछ नहीं होता। चने के मैली जगह में गिरने पर भी चने का ही पेड़ होता है।" सिद्धि के मार्ग पर अनेक जन्मों तक अग्रसर होते हुए जब सिद्धि की चरम अवस्था आ जाती है, उसके बाद भी यदि जन्म हो तो वह सिद्धि के साथ ही जन्म लेता है। तब वह पूर्ण सिद्धि है या नहीं? ठाकुर कहते हैं कि वह पूर्ण सिद्धि है। इसीलिए उन्हें नित्यसिद्ध कहा जाता है।

तो क्या ईश्वर पक्षपाती हैं, जो उन्होंने किसी को अधिक शक्ति दी है और किसी को कम? ठाकुर कहते हैं, "सो दिया है।" ऐसा न होने पर हमें पार्थक्य क्यों दिखाई देता? सबको एक कहने से नहीं चलेगा, पार्थक्य अवश्य है। परन्तु यदि प्रश्न उठे कि सबमें उस ब्रह्मत्व की उपलब्धि करने की सम्भावना है या नहीं? तो इसके उत्तर में ठाकुर ने बारम्बार "हाँ" कहा है। कहा है कि सबका होगा। कहा है कि काशी में कोई निराहार नहीं रहता, सबको भोजन मिल जाता है, परन्तु कोई सुबह पाता है, कोई दोपहर को, कोई तीसरे पहर और कोई संध्या को पाता है। अभिप्राय यह है कि सबमें समान शक्ति तो नहीं, परन्तु समान सम्भावना विद्यमान है। इस सम्भावना को क्रमशः रूपायित करने के लिए उसे परिश्रम करना पड़ता है। परिश्रम की शक्ति भी सबमें भिन्न भिन्न होती है। किसी ने ऐसी अवस्था में जन्म लिया है, जहाँ उस शक्ति का अधिक विकास हुआ है और किसी ने ऐसी अवस्था में जन्म लिया है जहाँ उसका कम विकास हुआ है। अतः पार्थक्य है। परन्तु इस पार्थक्य से क्या भगवान पर वैषम्य-दोष नहीं लगता? नहीं, क्योंकि जिन्हें हम भिन्न भिन्न शक्तिवाले कहते हैं, वे सभी वे स्वयं ही तो हैं। चूँकि वे स्वयं ही सब कुछ हुए है, इसलिए पक्षपात का प्रश्न ही नहीं उठता। ◻(क्रमशः)◻

सार्वभौमिक धर्म

धर्म-सम्बन्धी सभी संकीर्ण, सीमित, संघर्षरत धारणाओं को नष्ट होना चाहिए। सम्प्रदाय, जाति या राष्ट्र की भावना पर आधारित सारे धर्मों का परित्याग करना होगा। हर जाति या राष्ट्र का अपना अपना अलग ईश्वर मानना और दूसरों को भ्रान्त करना, एक अन्धविश्वास है, उसे अतीत की वस्तु हो जाना चाहिए। धर्म बातों का विषय नहीं है - वह तो प्रत्यक्ष अनुभूति का विषय है। हमें अपनी आत्मा में अन्वेषण करके देखना होगा कि वहाँ क्या है। हमें यह समझना होगा और समझकर उसका साक्षात्कार करना होगा। यही धर्म है। लम्बी-चौड़ी बातों में धर्म नहीं रखा है। अतएव, कोई ईश्वर है या नहीं, यह तर्क से प्रमाणित नहीं हो सकता, क्योंकि युक्तियाँ दोनों ओर से समान हैं। ... जिन व्यक्तियों ने वास्तव में ईश्वर एवं आत्मा की उपलब्धि की है, वे ही सच्चे धार्मिक हैं।

— स्वामी विवेकानन्द

मानस-रोग (३१/२)

पण्डित रामकिंकर उपाध्याय

(हमारे आश्रम द्वारा आयोजित विवेकानन्द जयन्ती समारोह के अवसरों पर पण्डितजी ने 'मानस' के वर्तमान प्रकरण पर कुल ४५ प्रवचन दिये थे। प्रस्तुत अनुलेखन उनके इकतीसवें प्रवचन का उत्तरार्ध है। टेप से इन्हें लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य श्री राजेन्द्र तिवारी ने किया है, जो सम्प्रति श्रीराम सगीत महाविद्यालय, रायपुर में अध्यापन करते हैं। – सं०)

हनुमानजी लंका की ओर चलने के लिए जब खड़े हुए तो गोस्वामीजी कहते हैं कि वे समुद्र के किनारे एक पर्वत पर खड़े हो गये और इतने विशाल हों गये कि उन्होंने जिस पर्वत पर पैर रखा, वह पर्वत नीचे धँस गया –

जेहिं गिरि चरन देइ हनुमंता। चलेउ सो गा पाताल तुरंता॥ ५/१/७

यह पर्वत है विचार का पर्वत। उस पर्वत से ही हनुमानजी छलाँग लगाते हैं और आकाश-मार्ग से चलने लगते हैं। यह आकाश का मार्ग ज्ञानमार्ग है। किन्तु हनुमानजी का यह मार्ग एकदम शुष्क ज्ञानमार्ग नहीं है। किसी ने गोस्वामीजी से पूछा कि हनुमानजी ने ज्ञानमार्ग का आश्रय लिया तो क्या इसका अभिप्राय यह है कि वे शुष्क ज्ञानी हैं? गोस्वामीजी ने तुरन्त एक बड़ी मीठी बात कह दी। उन्होंने कहा कि हनुमानजी भले ही आकाश मार्ग से जाते हुए दिखाई दे रहे हैं, मानो निरालम्ब हों, वहाँ न किसी पत्थर के पुल का आधार है और न ही जलचरों के पुल का, परन्तु वहाँ पर भी एक आधार है, न दिखाई देनेवाला आधार। वह आधार कौन-सा है ? बोले – ज्ञान की सामर्थ्य होते हुए भी हनुमानजी प्रभु की कृपा का आश्रय लेना नहीं भूलते –

बार बार रघुबीर सँभारी। तरकेउ पवनतनय बल भारी॥ ५/१/६

इसका अभिप्राय यह है कि जिसके जीवन में केवल ज्ञान है, जहाँ प्रभु की कृपा की स्मृति नहीं है, उस व्यक्ति में अभिमान आने की सम्भावना है। हनुमानजी चल रहे हैं ज्ञानमार्ग से, किन्तु प्रभु की स्मृति निरन्तर बनी हुई है। वे बाण की तरह आकाश में चल रहे हैं और स्मरण बना हुआ है कि इस बाण को चलानेवाला कौन है, यह किसका बाण है –

जिमि अमोघ रघुपति कर बाना। एही भाँति चलेउ हनुमाना॥ ५/१/८

जैसे भगवान का बाण चलता है, वैसे ही हनुमानजी चले। इसका अभिप्राय क्या है? किसी ने बाण की प्रशंसा कर दी कि वाह, तुम कितने महान हो, निरालम्ब भाव से आकाश में उड़ते चले जा रहे हो। बाण ने कहा कि तुम चलनेवाले को तो देख रहे हो, पर चलानेवाले को नहीं जानते। यह सामर्थ्य मेरी नहीं – धनुष की है, धनुष को चलानेवाली भुजा की है, यह सामर्थ्य तो उन विशाल भुजावाले प्रभु की है। जितनी शक्ति से उन्होंने मुझे फेंक दिया है, उतनी शक्ति से मैं चलता हुआ दिखाई देता हूँ। वस्तुतः इस निरालम्ब दिखाई

देनेवाले के पीछे जो अवलम्ब है, उसे तो देखो। यही बात उस समय भी हुई थी, जब हनुमानजी औषधि लेकर लौट रहे थे। भरतजी के बाण से मूर्छित हुए और बाद में भरतजी ने उन्हें चैतन्य किया। भरतजी ने हनुमान से प्रस्ताव किया – आप मेरे बाण पर बैठ जाइए, मैं आपको प्रभु के पास पहुँचा दूँ –

चढ़ु मम सायक सैल समेता। पठवौं तोहि जहँ कृपानिकेता॥ ६/६०/६

हनुमानजी एक क्षण के लिए, बाण पर चढ़े पर तत्काल उतर आए। वे कह सकते थे कि ठीक है, आप अपने बाण पर बैठाकर मुझे पहुँचा दीजिए, परन्तु हनुमानजी ने कहा – बस महाराज, अब मेरा काम बन गया। अब मैं बाण की तरह चला जाऊँगा। क्या तात्पर्य था हनुमानजी का? बोले – मैं बाण तो पहले से ही था, पर अपने बाणत्व को भूल गया था। आपके बाण को छूकर फिर से याद आ गई। आपने अपने बाण से मेरे बाणत्व की स्मृति जगा दी। आपके बाण के स्पर्श से मुझे उस सत्य की स्मृति हो आई, जो लंकायात्रा के समय मेरे जीवन में थी।

इस प्रकार ज्ञानयोग से हनुमानजी की लंकायात्रा का श्रीगणेश होता है। ज्ञानयोग में भक्तियोग, भगवान की स्मृति का आश्रय, भगवान के बाण के रूप में निमित्त बनकर वे लंका की ओर प्रस्थान करते हैं। इस यात्रा में जैसे ही वे आगे बढ़े, एक समस्या आ गयी। समुद्र में मैनाक नाम का एक पर्वत छिपा हुआ है। यह सोने का पर्वत है। समुद्र ने मैनाक से कहा – तुम्हारे मित्र का पुत्र आकाश में जा रहा है, तुम बाहर निकलकर कम-से-कम उसका स्वागत तो करो –

जलनिधि रघुपति दूत बिचारी। तैं मैनाक होहि श्रम हारी॥ ५/१/९

तब मैनाक पर्वत ने ऊपर उठकर हनुमानजी से प्रस्ताव किया कि वे थोड़ा-सा विश्राम कर लें और तब आगे को प्रस्थान करें। यहाँ हनुमानजी ने मैनाक पर्वत के साथ जो व्यवहार किया, उसमें बड़े महत्व का संकेत है। कभी कभी ऐसे व्यक्ति दिखाई देते हैं जिनके जीवन में त्याग तो है, परन्तु त्याग के बावजूद त्याग का अभिमान न हो, ऐसे व्यक्ति बिरले हैं। जिन्हें धन का लोभ नहीं होता, वे धन देने पर भी स्वीकार नहीं करते, पर उनके मुख से प्राय: ही सुनने में आता है कि मैं तो लाखों रुपयों को ठोकर मार देता हूँ, मुझे तो करोड़ों की भी परवाह नहीं है। हनुमानजी भी चाहते तो एक लात मार देते उस सोने के पहाड़ को, और कह देते – मुझे तुम्हारी परवाह नहीं है। लेकिन हनुमानजी की विलक्षणता क्या है? 'हनूमान तेहि परसा' – हनुमानजी ने तत्काल उसका स्पर्श किया और कहा कि आप मुझे स्मरण दिला रहे हैं, आप हमारे पिता के मित्र हैं, आप मेरे लिए पिता के समान पूज्य हैं, श्रद्धा के पात्र हैं, मैं आपका सम्मान करता हूँ, आपका स्पर्श करता हूँ। इसका अभिप्राय यह है कि हनुमानजी प्रलोभन से मुक्त तो हैं, पर उनमें अपनी इस निर्लोभता का अहंकार भी नहीं है। वे इन दोनों समस्याओं से मुक्त हैं। उन्होंने निरहंकार भाव से कहा –

रामकाजु कीन्हें बिनु मोहि कहाँ बिश्राम॥ ५/१

– भगवान के कार्य किये बिना मुझे विश्राम कहाँ मिलेगा? यह मैनाक पर्वत प्रलोभन का

प्रतीक है। देहाभिमान के समुद्र को पार करते समय पहले प्रलोभन आया। त्याग की सर्वोत्कृष्ट स्थिति बताते हुए कहा गया है - येन त्यजसि तत् त्यज। इसका अर्थ है कि त्याग ही नहीं, बल्कि जिसके द्वारा त्याग किया जाता है, उसे भी त्याग दिया जाय। इसी वृत्ति से हनुमानजी ने मैनाक पर्वत से आशीर्वाद पाकर उनसे विदा ली और आगे बढ़े। लोभ के बाद आगे बढ़े तो साधना-पथ की एक के बाद एक समस्याएँ आने लगीं। साधक के जीवन में भाँति भाँति कीं अनेक समस्याएँ आती हैं। मैनाक पर्वत से विदा लेकर हनुमानजी ज्योंही आगे बढ़े, एक विशाल सर्पिणी मुँह फैलाकर हनुमानजी के सामने खड़ी हो गई। हनुमानजी ने जब उसकी ओर देखा, तो सर्पिणी ने अपना परिचय देते हुए कहा -

सुरसा नाम अहिन्ह कै माता। पठइन्हि आइ कही तेहिं बाता।।
आजु सुरन्ह मोहि दीन्ह अहारा। सुनत बचन कह पवनकुमारा।। ५/२/२-३

मैं स्वर्ग से आई हूँ, मुझे राक्षसी मानकर व्यवहार न करना। हनुमानजी बोले – स्वर्ग से आई हो तो ऐसा विरोध का व्यवहार क्यों करती हो? सुरसा ने कहा – देवताओं ने मुझे विशेष रूप से कहा है कि तुम भूखी हो, तो इस बन्दर को खा लो। यहाँ एक बड़ी अनोखी बात है। साधना के मार्ग में, साधक के जीवन में केवल दुर्गुण-दुर्विचार रूपी राक्षस ही बाधा उपस्थित नहीं नहीं करते, अपितु कई बार तो सद्गुण भी मार्ग में बाधा बन जाते हैं। अब यह सुरसा लंका से आई हुई कोई राक्षसी नहीं है, बल्कि इसे देवताओं ने स्वर्ग से भेजा है। इसका तात्पर्य क्या है? हनुमानजी देहाभिमान के समुद्र को पार कर रहे हैं। देवताओं ने सोचा कि जरा इसकी सच्चाई तो जाँच लें। सुरसा को उन्होंने परीक्षा के लिए भेज दिया। उसने हनुमानजी से कहा, ''तुम तो देहाभिमान से ऊपर उठ चुके हो, तुम्हारे मन में तो देह के प्रति 'अहं-मम' का भाव नहीं है और मैं भूखी हूँ। मैं तुम्हें खा लूँ तो इसमें तुम्हें आपत्ति ही क्या है? मेरा पेट भी भर जाएगा और तुम्हें कोई कष्ट भी नहीं होगा।

सचमुच यह बड़ी कठिन परीक्षा थी। सुरसा हनुमानजी की प्रशंसा करते हुए कहती है – ''सचमुच तुम कितने महान हो, देहाभिमान से ऊपर उठ चुके हो, देह के प्रति तुम्हारी रंच मात्र भी अहंता-ममता नहीं है, अब एक महान कार्य और करो। इससे तुम्हारी कीर्ति और भी बढ़ जाएगी।'' – क्या? बोली – ''इस देह का तो अब तुम्हारे लिए कोई अर्थ नहीं है, इससे मेरी भूख मिटा दो। इससे तुम्हारा देहाभिमान से ऊपर उठना सार्थक हो जाएगा और तुम्हारी कीर्ति में भी वृद्धि होगी।''

अब यदि कोई व्यक्ति कीर्ति की कामना लेकर अपने जीवन में साधना, तपस्या अथवा सत्कर्म कर रहा हो, तब तो सुरसा का तर्क सही लगता है। प्रशंसा ही उसकी कला है, प्रशंसा करके ग्रास बना लेती है। पर हनुमानजी ने इसका बड़ा सन्तुलित उत्तर दिया। उन्होंने कहा कि देहाभिमान से मुक्त होने का अर्थ यह तो नहीं है कि व्यक्ति आत्महत्या कर ले। अगर इसी को कसौटी बना लिया जाय, तब तो जितने भी लोग आत्महत्या करते हैं, वे सभी देहाभिमान से ऊपर उठे हुए हैं, क्योंकि वे शरीर को निर्ममतापूर्वक गाड़ी के नीचे डाल देते हैं या देह में आग लगा लेते हैं। हनुमानजी ने कहा – देहाभिमान से तो मैं मुक्त हूँ,

परन्तु जब तक इस देह का सदुपयोग हो सकता है, तब तक मैं इसका सदुपयोग करूँगा और जब उपयोगिता समाप्त हो जाय, तब खा लेना; मुझे कोई आपत्ति न होगी। बोले –

राम काजु करि फिरि मैं आवौं। सीता कइ सुधि प्रभुहि सुनावौं।।
तब तव बदन पैठिहउँ आई। सत्य कहउँ मोहि जान दे माई।। ५/२/४-५

लेकिन सुरसा किसी भी तरह से हनुमानजी को आगे नहीं बढ़ने देती। तब हनुमानजी ने कहा – अच्छा, लो, खा सको तो खा लो। यह कहकर उन्होंने अपना शरीर फैलाना शुरू किया और सुरसा के मुख से दूने आकार में खड़े हो गये। सुरसा ने भी अपना मुँह हनुमानजी से दूना फैलाया। कुछ देर यह खेल चलता रहा। हनुमानजी चाहते तो इस खेल में भी सुरसा को परास्त कर सकते थे परन्तु उन्होंने एक सुन्दर युक्ति का आश्रय लिया। उन्होंने अपने आकार को तुरन्त समेट लिया और अत्यन्त छोटे बनकर सुरसा के मुँह में घुस गये। सुरसा उन्हें चारों ओर ढूँढ़ती रही और वे सुरसा के मुँह से बाहर आ गये। बोले, "लो तुम्हारा खाना हो गया न?" हनुमानजी की इस युक्ति से सुरसा सन्तुष्ट हो गई।

आगे चलकर हनुमानजी को ऐसे पात्र और भी मिले, जो उन्हें खा जाना चाहते थे। सुरसा के बाद सिंहिका और उसके बाद लंकिनी मिली। वे भी हनुमानजी को खा जाना चाहती थीं, परन्तु हनुमानजी ने इन सब के साथ समान व्यवहार नहीं किया, अपितु तीनों से तीन अलग अलग प्रकार का व्यवहार किया। सिंहिका को तो मारकर उन्होंने पूरी तरह नष्ट कर दिया और लंकिनी पर मुक्के का प्रहार करके उसे अधमरा कर दिया, लेकिन सुरसा को उन्होंने न तो मारकर समाप्त किया और न अधमरा ही किया, बल्कि एक नई पद्धति से उन्होंने सुरसा पर विजय प्राप्त की।

यह सुरसा कौन है? यह है लोकैषणा। यह कब आती है? रामायण में एक क्रम है। साधक के जीवन में जिस क्रम से समस्याएँ आती हैं, यहाँ भी उसी क्रम से रखी गई हैं। पहले मैनाक पर्वत के रूप में 'प्रलोभन' आता है। उसके बाद यह 'लोकैषणा' रूपी सुरसा आती है। लोकैषणा अर्थात कीर्ति की कामना। सोने का पहाड़ छोड़ने के बाद कीर्ति की कामना विशाल मुँह फैलाकर आपके सामने उपस्थित होगी। जहाँ त्याग हुआ, वहाँ कीर्ति की समस्या सामने आई। यह लोकैषणा ही सुरसा है। इसलिए इसका परिचय बड़ा विचित्र है। देवताओं ने भेजा है, परन्तु यह सर्पों की माता है। इसका अभिप्राय क्या है? यह कि लोकैषणा के प्रेरक तो देवता हैं, परन्तु यह जन्म देती है सर्पों को। सर्प दुर्गुण के और देवता सद्गुण के प्रतीक हैं। इसका अभिप्राय यह है कि लोकैषणा आयेगी तो सद्गुणों की प्रेरणा से, परन्तु आकर दुर्गुणों को ही जन्म देगी। इसमें यह बड़ा ही विचित्र विरोधाभास है। ये दोनों बातें आप लोकैषणा में पाएँगे।

हनुमानजी ने सुरसा को मार क्यों नहीं डाला ? हनुमानजी को यह लगा कि इसे नहीं मारना चाहिए। और यह उचित भी है, इसे जीवित रहना चाहिए। अगर यह चेष्टा की जाय कि समाज में, लोगों के मन में कीर्ति की कामना न रहे, बिल्कुल मिट जाय, तो यह बड़ी घातक बात होगी। कीर्ति की कामना को जीवित रखना आवश्यक है। संसार में न जाने

कितने लोग सत्कर्म करते हैं, सद्‌गुण अपनाते हैं कि लोग मुझे याद करेंगे, मेरा नाम लेंगे, मेरे नाम का पत्थर लगेगा, स्मारक बनेगा या मेरा नाम समाचार-पत्रों में छपेगा। इस प्रकार कीर्ति की कामना से कम-से-कम अच्छा काम करने की वृत्ति तो आती है। ऐसी स्थिति में यह सुरसा, यह कीर्ति की कामना मारने योग्य नहीं है।

इस क्रम में ये जो तीन हैं, उनमें से एक तो समूल मारने योग्य है, एक अधमरा करके छोड़ देने योग्य है और एक को जीवित रखने की आवश्यकता है। कीर्ति की कामना को तो जीवित रखना है, परन्तु यह सावधानी भी रखना है कि कीर्ति की कामना कहीं हमें खा न जाय। बस यही समस्या है, कीर्ति की कामना समाज में अधिकांश लोगों को खा जाती है। त्याग के बाद कीर्ति की कामना आती है और वह व्यक्ति को खा जाती है, साधक शान्तिरूपा सीता तक नहीं पहुँच पाता।

इसका समाधान हनुमानजी देते हैं। उन्होंने सुरसा की चुनौती का उत्तर दूसरे ढंग से दिया। सुरसा ने जब कहा कि मैं तो तुम्हें खाऊँगी, तो हनुमानजी ने कहा कि जब तुम नहीं मानती तो लो खा लो। सुरसा ने मुँह फैलाया। वह मुँह फैलाने की कला में बड़ी निपुण है। ससार में और अपने जीवन में भी यही हम और आप देख रहे हैं कि यह कीर्ति की कामना का मुँह कैसे फैलता जाता है? पहले मन में इच्छा होगी कि समाचार-पत्रों में मेरा नाम छपे, फिर मुँह फैलेगा कि चित्र भी छपे, फिर और मुँह फैलेगा कि अभिनन्दन-ग्रन्थ भी छपे। इस तरह से यह सुरसा रूपी कीर्ति की कामना का मुँह फैलता ही जाता है। मनुष्य को सन्तोष नहीं होता। अधिकांश लोगों की समस्या यह है कि स्वयं तो छोटे हैं और सुरसा का मुँह बड़ा है। व्यक्ति स्वयं तो छोटा है और उसकी कीर्ति-कामना बहुत बड़ी है। परिणाम क्या होगा? सुरसा उसे खा जायेगी।

लेकिन हनुमानजी के सामने जब यह समस्या आई, तो उन्होंने तत्काल ज्ञानयोग का आश्रय लिया। जैसे किसी लखपति से कह दिया जाय कि आप तो करोड़पति हैं, तो उसे अभिमान हो सकता है कि मेरी प्रशंसा हो रही है। पर किसी लखपति से कह दें कि आपके पास तो हजारों रुपये हैं, तब क्या वह अभिमान का अनुभव करेगा? वह तो खीझ उठेगा कि मैं क्या हूँ और यह मुझे बता क्या रहा है? इसी तरह सुरसा जब मुँह फैलाती है, तो हनुमानजी दूने हो जाते हैं। मानो कह देते हैं, तुम मुझे समझ क्या रही हो? मैं तुमसे दूना बड़ा हूँ। तुम क्या मुझे अपनी सीमा में देख रही हो? मेरी कोई सीमा नहीं है। हनुमानजी का आकार बढ़ता चला जा रहा है। वे ज्ञानयोग से अपना विस्तार करते चले जा रहे हैं। अब यदि वे चाहते तो ज्ञानयोग पर प्रतिष्ठित रह सकते थे, किन्तु उन्होंने मानो संकेत दिया कि यद्यपि ज्ञानयोग के द्वारा भी कीर्ति की कामना पर विजय पाई जा सकती है, परन्तु उसमें विलम्ब लगेगा। तब किस योग के द्वारा उन्होंने उसे परास्त किया? वहाँ वर्णन आता है कि सुरसा ने सौ योजन का मुँह फैलाया। अब हनुमानजी अगर ज्ञानयोग पर ही अड़े रहते तो अपना आकार बढ़ाते ही जाते; दो सौ, चार सौ, हजार योजन तक बढ़ जाते, वहाँ तो कोई

सीमा ही नहीं है। पर उन्होंने सोचा कि न तो ज्ञान की कोई सीमा है और न सुरसा के मुँह की। इस खेल में व्यर्थ ही समय नष्ट होगा। तब उन्होंने किस योग का आश्रय लिया? जैसे ही सुरसा ने –

सत जोजन तेहिं आनन कीन्हा।
अति लघु रूप पवनसुत लीन्हा॥ ५/२/१०

ज्योंही सौ योजन का मुख फैलाया, त्योंही हनुमानजी 'अति-लघु' छोटे ही नहीं, बहुत छोटे, अति-लघु बन गये। अति लघु अर्थात? लघु अर्थात जो दिखाई दे जाय, और अति-लघु अर्थात जो दिखाई न दे। जब हनुमानजी अति-लघु बन गये, शून्य की भाँति हो गये, तब सुरसा आँखें फाड़-फाड़कर देखने लगी कि बन्दर गया कहाँ? यह तो अभी दूना, चौगुना हो रहा था, अब क्या हो गया? तब हनुमानजी ने एक अनोखा कार्य किया। अत्यन्त छोटे बनकर सुरसा के मुँह में पैठ गये और वहाँ से लौट भी आए। उन्होंने सुरसा से कहा – लो, मैं तुम्हारे मुँह से लौट भी आया। इसका अभिप्राय क्या है? अति-लघु अर्थात दैन्ययोग।

इसका अभिप्राय यह है कि जब हम स्वयं को बड़ा बताने की चेष्टा करेंगे, तो भी संसार में होड़ लग जाएगी और यदि मध्यम दृष्टि से लोगों की दृष्टि में आने की चेष्टा करेंगे तो भी इससे छुट्टी नहीं मिलेगी, पर व्यक्ति को अगर शून्य बन जाने की कला आती हो, स्वयं को अदृश्य कर लेने की कला आती हो, तो वही कीर्ति की कामना से बच सकता है। जब हम दूसरों के सामने स्वयं को दिखाने की चेष्टा करते हैं, तो लोगों के मन में विरोध उत्पन्न होता है, पर जब हमारे अन्तःकरण में अपने को लुप्त करने की, लघु-से-लघु होने की कला, वह दैन्य आ जाता है, जिसका भक्तों ने – **तृणादपि सुनीचेन** – घास के तिनके से भी लघु कहकर वर्णन किया है, तब सारा विरोध समाप्त हो जाता है। हनुमानजी ने इसी दैन्ययोग का आश्रय लिया और कीर्ति-कामना रूपी सुरसा पर विजय प्राप्त की।

अब सुरसा के ठीक बगल में यह कौन है? हनुमानजी जब कीर्ति-कामना से ऊपर उठे, तो ठीक उसके बगल में सिंहिका थी। यह बड़ी अनोखी बात है। यह सिंहिका वहीं पर है, जहाँ पर सुरसा है। दोनों पास पास हैं। जहाँ मैनाक पर्वत है, वहाँ सुरसा है और जहाँ सुरसा है, वहीं सिंहिका है। यह सिंहिका कौन है? यह राहु की माता है। कैकेयी के प्रसंग में ईर्ष्यावृत्ति रूपी राहु की व्याख्या हो चुकी है। अब सुरसा के सन्दर्भ में सिंहिका का तात्पर्य क्या है? जहाँ कीर्ति-कामना होगी वहीं ईर्ष्या-वृत्ति भी प्रकट होगी। ईर्ष्या तो उन्हीं में होती है, जिनमें कीर्ति की कामना होती है। इसलिए ये दोनों विकार बिल्कुल पास-पास रहते हैं, एक ओर कीर्ति की कामना और दूसरी ओर ईर्ष्या की वृत्ति। क्योंकि कीर्तिवान व्यक्ति केवल कीर्ति नहीं चाहता, उसके मन में एक वृत्ति यह भी बनी रहती है कि कहीं किसी दूसरे की कीर्ति मेरी कीर्ति से आगे न निकल जाए। इसे मात्सर्य की वृत्ति कहते हैं।

राहु के प्रसंग में इसकी ओर संकेत किया गया है तथा समुद्र-मन्थन के प्रसंग में इसकी उत्कृष्ट व्याख्या हुई है। अमृतत्व की आकांक्षा से प्रेरित होकर देवता और दैत्य श्रम कर रहे

हैं। वैसे तो पुराणों में यह कथा ऐसे भी लिखी जा सकती थी कि देवताओं ने मन्थन किया, अमृत प्राप्त किया और पान भी किया। किन्तु पुराणों में तो जीवन के सत्यों का बड़ा सांगोपांग वर्णन किया गया है। इस कथा का अर्थ क्या है? समुद्र-मन्थन में देवता और दैत्य, दोनों का श्रम बराबर है। जो अच्छे व्यक्ति हैं वे और जो बुरे हैं, वे भी अमरत्व प्राप्त करने के लिए श्रम कर रहे हैं। परन्तु समान श्रम होते हुए भी अविवेक के कारण एक व्यक्ति शराब पीकर उन्मादी हो जाता है और दूसरा अमृत पीकर धन्य हो जाता है। यह जो समाज का सर्वांगीण सत्य है, उसे पुराण समुद्र-मन्थन के प्रसंग में व्यक्त कर रहे हैं।

शिक्षा के क्षेत्र में, धर्म के क्षेत्र में, व्यापार के क्षेत्र में या सेवा के क्षेत्र में समान रूप से कर्म करते हुए भी कुछ लोग कर्म का या अपनी श्रेष्ठता का अभिमान पाल लेते हैं। जिनमें यह अभिमान है, वे आसुरी वृत्तिवाले लोग हैं और जिन्हें ज्ञान या अमृतत्व की अनुभूति हो रही है, उनमें देवत्व की वृत्ति है।

यहाँ एक प्रश्न उठ सकता है कि क्या समाज में केवल अच्छे व्यक्ति ही अमर होते हैं? क्या बुरे लोग अमर नहीं होते? अच्छे व्यक्ति के साथ बुरे व्यक्ति भी, जिनके कर्म कुछ खराब हैं, वे भी अमर दिखाई दे रहे हैं। उनकी भी कीर्ति और बड़ा नाम दिखाई दे रहा है। ऐसी स्थिति में यह जो राहु की कथा है, इसमें मानो यह बात स्वीकार की गयी है कि हाँ, यह भी हो सकता है। वैसे तो बुरे व्यक्तियों के हिस्से में सुरा आएगी, परन्तु यह भी सम्भव है कि बुरे व्यक्ति को धोखे से अमृत मिल जाए और वह अमर हो जाए।

धोखे से मिल जाने का तात्पर्य यह है कि जब समुद्र-मन्थन हुआ और अमृत निकला, तो अमृत का घड़ा दैत्यों ने छीन लिया। दैत्य बड़े शक्तिशाली और पुरुषार्थी हैं। देवता उनके सामने टिक नहीं सकते। उस समय भगवान विष्णु ने कहा कि जब देवता और दैत्य, दोनों ने बराबर श्रम किया है, तो अमृत भी दोनों को बराबर बराबर बाँट दिया जाय। दैत्यों ने कहा कि तुम पूरे स्वार्थी हो, देवताओं के नेता हो, हम तुम पर बिल्कुल विश्वास नहीं करेंगे, इसे केवल हम दैत्य ही पीयेंगे।

भगवान तो बड़े कौतुकी हैं, तुरन्त उन्होंने मोहिनी का रूप धारण कर लिया और दैत्यों के निकट गये। उस सौन्दर्य पर मुग्ध होकर दैत्यों ने बिना माँगे ही अमृत का घड़ा उनके हाथ में दे दिया। इसका अभिप्राय क्या है? आखिरकार भगवान को ही दिया, परन्तु जब भगवान माँग रहे थे तब नहीं दिया, भगवान के रूप में भगवान को नहीं दिया, परन्तु भगवान ने जब स्वय को मायामय बना लिया, तो माया को दिया। बिना माँगे, स्वेच्छापूर्वक ही दे दिया। दैत्यों ने मोहिनी से कहा कि अमृत तो वैसे ही मधुर होगा, परन्तु जब तुम्हारे हाथ से बाँटा जाएगा तब और न जाने कितना मधुर हो जाएगा, इसलिए तुम्हीं इस अमृत को बाँट दो। कहते हैं कि मोहिनी के रूप में भगवान ने जो पात्र लिया, उस पात्र की विचित्रता यह थी कि उसमें एक ओर अमृत गिर रहा था और दूसरी ओर शराब। एक पंक्ति में देवता बैठ गये और एक पंक्ति में दैत्य। देवताओं की ओर अमृत गिर रहा है और दैत्यों की ओर सुरा।

लेकिन इन आसुरी वृत्तिवालों में एक बड़ी पैनी बुद्धिवाला था। यह बुद्धिमत्ता कोई सज्जनों की थाती नहीं है, कभी-कभी बुरे व्यक्ति भी बड़ी पैनी बुद्धिवाले होते हैं और इसका सबसे बड़ा प्रमाण राहु है। इस बुद्धिमान राहु को जन्म देनेवाली है सिंहिका। गोस्वामीजी सिंहिका को राहु की माता बताते है। उसके चरित्र में यह कैसा विरोधाभास है! एक ओर तो वह बुद्धिमान राहु को जन्म देती है और दूसरी ओर वही सिंहिका 'बुद्धिमताम् वरिष्ठम्' हनुमानजी को खाने का प्रयास करती है। ईर्ष्या का यही स्वरूप है। राहु मूर्तिमान मात्सर्य है। और ये ईर्ष्या तथा मात्सर्य एक दूसरे के साथ जुड़े हुए हैं।

राहु पहचान गया – अरे, यह तो मोहिनी के रूप में भगवान विष्णु हैं। दैत्यों को सुरा मिल रही है और देवताओं को अमृत मिल रहा है। बड़ी पैनी दृष्टि थी उसकी, परन्तु वह उतना ही स्वार्थी भी था। अगर उसने अपनी पैनी दृष्टि का उपयोग अपने समाज के लिए किया होता, अगर उसने दैत्यों को बता दिया होता कि तुमको सुरा मिल रही है, तुम लोग अमृत के लिए आग्रह करो, अन्यथा अमृत से वंचित रह जाओगे; तो लगता है कि उसमें समाज और अपनी जाति के प्रति हित की भावना है। परन्तु वह इतना पक्का स्वार्थी था कि उसने सोचा कि कहीं इन लोगों को बताने के चक्कर में अपना अमृत ही न चूक जाय। दूसरा कोई दैत्य अमर हो या न हो, परन्तु हमें तो अमर होना है। बस मैं ही अमर हो जाऊँ – यही उसकी तीव्र आकांक्षा है।

तो ऐसे बुरे लोग अमरत्व के लिए क्या करते हैं? ये लोग बुरे होते हुए भी अच्छे दिखने की कला में बड़े निपुण होते हैं। राहु देवताओं के समान रूप बना लेने में बड़ा निपुण है। यह समाज का एक वास्तविक चित्र है। ऐसे लोग, जिनकी वृत्ति तो बहुत बुरी रहती है पर बुद्धि बड़ी पैनी रहती है, वे तत्काल समझ लेते हैं कि किस उपाय से उनका स्वार्थ सिद्ध होगा। वे बड़ी चतुराई से स्वयं को अच्छे रूप में प्रदर्शित करते हैं – भीतर दैत्यवृत्ति होती है और बाहर से देवत्व का खोल ओढ़कर देवताओं की पंक्ति में बैठ जाते हैं। और बैठने में भी चतुराई है। राहु पंक्ति में कहाँ पर बैठा? प्रारम्भ में नहीं बैठा। उसने सोचा – जब कोई व्यक्ति परोसने आता है, तो प्रारम्भ में बैठे हुए व्यक्ति पर परोसनेवाले का ध्यान विशेष रूप से जाता है। और आगे बढ़ने पर, ज्यों-ज्यों परोसनेवाला थकता जाता है, त्यों-त्यों उसका ध्यान कम होता जाता है।

राहु को भय था कि कहीं ऐसा न हो कि मोहिनी मुझे देखकर पहचान ले, इसलिए यहाँ बैठना उचित नहीं है, यहाँ खतरा है। चलें, बिल्कुल अन्त में बैठ जाएँ। परन्तु वह तो बड़ा चौकन्ना था, वहाँ भी डर गया कि कहीं बीच में ही अमृत समाप्त हो गया, तब क्या होगा? इसलिए कहीं बीच में बैठना ही ठीक रहेगा। न आदि में और न अन्त में – देव तथा दैत्यवृत्ति के बीच में बैठने की प्रवृत्ति और देवत्व तथा दैत्यत्व की विचित्र संधि राहु के जीवन में दिखाई देती है। भगवान भुवनमोहिनी रूप में आए। राहु ने हड़बड़ी में अपना पात्र बढ़ाया और मोहिनी ने उसमें अमृत का बूँद डाल दिया। राहु ने तुरन्त उसे मुँह से लगाया और पी गया।

तभी सूर्य और चन्द्रमा ने राहु को पहचान लिया। राहु अँधकार का प्रतीक माना जाता है। ज्योतिष शास्त्र में उसका नाम तम है, सूर्य-चन्द्रमा प्रकाश के प्रतीक हैं। प्रकाश ने अँधकार को ठीक पहचान लिया। तब सूर्य और चन्द्रमा दोनों ने कहा – महाराज, यह आपने किसको अमृत दे दिया? देखिए तो, यह देवता नहीं है। भगवान विष्णु ने तत्काल अपना चक्र उठाया और उसका सिर काट डाला। बड़ी अनोखी कथा है। अगर पहचान गये थे, तो अमृत न देते और जब दे ही दिया, तो उसके अमर हो जाने पर अब उसका सिर काटने में क्या तुक है? परन्तु भगवान तो जीवन तथा समाज का सत्य प्रकट कर रहे हैं। भगवान ने अमृत तो इसलिए दे दिया कि जाने-अनजाने चाहे किसी भी तरह जब इसने मुझे पहचान ही लिया है, तो यह अमृत पाने का अधिकारी तो हो ही गया। ज्ञान यदि अमृत है, तो बुद्धि भले ही अपवित्र हो, पर यदि सूक्ष्म है तो एक प्रकार से अधिकारी तो वह हो जाता है, लेकिन एक सूक्ष्म अन्तर भी है। सूक्ष्म बुद्धिवाला व्यक्ति ऊँचे-से-ऊँचे दर्शन के सिद्धान्त को समझ तो सकता है, मगर उसे अपने जीवन में उतारने में समर्थ नहीं हो पाता। इसके लिए बुद्धि की कुशाग्रता के साथ-ही-साथ बुद्धि की शुद्धता भी आवश्यक है। इसलिए रामायण में बुद्धि के साथ दो शब्द जोड़ दिये गये हैं –

सुमति भूमि थल हृदय अगाधू। १/३६/३
जनक सुता जग जननि जानकी।
अतिसय प्रिय करुनानिधान की॥
ताके जुग पद कमल मनावउँ।
जासु कृपाँ निरमल मति पावउँ॥ १/१७/७-८

केवल बुद्धि नहीं, सुमति भी चाहिए और केवल सुमति ही नहीं, उसके साथ साथ बुद्धि पूरी तरह से निर्मल हो, तब कहीं जीवन में पूर्णता और समग्रता आती है। राहु की बुद्धि में पैनापन तो है पर हृदय में शुद्धता नहीं है। बुद्धि के पैनेपन के कारण वह अमर हो गया, लेकिन भगवान ने कहा कि ऐसे लोगों का अमर होना संसार के लिए बड़ा दुखदाई है। राहु अमर तो हुआ, परन्तु चक्र से उसके दो टुकड़े भी हो गये – सिर अलग और धड़ अलग। दोनों जीवित हैं। ज्योतिष-शास्त्र में सिरवाले भाग को राहु और धड़वाले भाग को केतु कहते हैं।

राहु दो टुकड़ों में बँटकर अमर होता है। इसका तात्पर्य यह है कि जो समझे कुछ और करे कुछ – सिर अलग चले और पैर अलग चले, तो समझ लेना चाहिए कि यही राहु की वृत्ति है, यही राहु का जीवन है। यह दोनों तरह से दुखदाई है। इसका आधा भाग अँधेरा है और आधा उजाला। बुरे व्यक्ति में अन्धकार होता है या प्रकाश? कितनी सार्थक बात कही गई है। राहु एकदम काला है और केतु? पुच्छल तारा जो दिखाई देता है, वही केतु है, वह अँधेरे में चमकता हुआ दिखाई देता है। किन्तु पुराण यह संकेत करते हैं कि बुरा व्यक्ति अमर होकर दोनों तरफ से दुख देता है। कैसे? अँधेरा बनेगा तो दूसरों का प्रकाश छीनने की चेष्टा करेगा, सूर्य-चन्द्र पर ग्रहण लगाएगा। चलो, हम इनके समान चमक नहीं सकते तो

इनकी चमक तो मिटा दें। दूसरी ओर अगर केतु बनकर चमकने लगे तो केतु को आकाश में चमकते देखकर किसी व्यक्ति को यह प्रसन्नता नहीं होती कि आज तो इतना चमकदार तारा आकाश में निकल आया है, जो सूर्य-चन्द्र से होड़ ले रहा है, बल्कि व्यक्ति घबरा जाता है कि केतु निकला है, न जाने किसका विनाश करेगा? ये बुरे लोग अँधेरा फैलाते हैं, तो दूसरों का प्रकाश छीनने की चेष्टा करते हैं और प्रकाश बनते हैं तो आतंक फैलाते हैं, मृत्यु और विनाश का भय उत्पन्न करते हैं।

पुच्छल तारे का उदय अनिष्ट तथा विनाश का सूचक माना जाता है। इस प्रकार जो व्यक्ति दोनों तरह से – अन्धकार से भी और प्रकाश से भी समाज को उत्पीड़ित करता है, यह राहु उसी का प्रतीक है। फिर यह राहु पूज्य भी बन जाता है। इसका अभिप्राय यह है कि बुरे लोग कभी कभी समाज में पूज्य भी बन जाते हैं। चमकने भी लग जाते हैं। लेकिन उनका यह जो द्वैत है, यह जो विरोधाभास है, यह विरोधी वृत्ति है, यह मिट नहीं सकती। दूसरों का प्रकाश विनष्ट करने की उनकी यह वृत्ति निरन्तर बनी रहेगी।

कैकेयी के सन्दर्भ में गोस्वामीजी राहु का उल्लेख करते हैं और हनुमानजी की लंकायात्रा के प्रसंग में सिंहिका को राहु की माता बताते हैं। हनुमानजी ने उसे तुरन्त पहचान लिया। अभिप्राय यह कि काम को पहचानना सरल है, क्रोध और लोभ को भी पहचानना सरल है, परन्तु ईर्ष्या को पहचानना सरल नहीं है। यह ईर्ष्या की वृत्ति गहरे समुद्र में छिपी हुई है। किन्तु हनुमानजी उसे तुरन्त पहचान लेते हैं और ज्ञानयोग के द्वारा तत्काल एक क्षण में उसे विनष्ट कर देते हैं। जहाँ द्वैत है, वहीं ईर्ष्या भी है। ज्ञान के द्वारा, अद्वैतवृत्ति के द्वारा उस ईर्ष्यावृत्ति का विनाश करके हनुमानजी समुद्र के सारे विघ्नों को पार कर लेते हैं।

दूसरे शब्दों में हनुमानजी ने जान लिया कि गहराई में छिपी हुई, मात्सर्य की जननी, यह ईर्ष्यावृत्ति मनुष्य के अन्तःकरण में केवल अकल्याण की ही सृष्टि करनेवाली है। और इसलिए हनुमानजी ने उसे तत्काल एक क्षण में नष्ट कर दिया। लोकैषणा बनी रहे, यहाँ तक तो ठीक है, आवश्यक भी है, पर उसके साथ ईर्ष्या न रहे। क्योंकि ईर्ष्या यदि होगी, तो मात्सर्य का भी जन्म होगा। ईर्ष्यावान व्यक्ति दूसरों को गिराने की चेष्टा अवश्य करेगा, किन्तु अगर कीर्ति की कामना हो और ईर्ष्या न हो तो व्यक्ति अच्छा काम करेगा, पर दूसरों को गिराने की चेष्टा नहीं करेगा। ☐(क्रमशः)☐

सुधार नहीं - अग्रगति

मैं कहता हूँ - 'सुधार' नहीं, अपितु 'बढ़े चलो'। कोई भी वस्तु इतनी बुरी नहीं है कि उसका सुधार या पुनर्निर्माण करना हो। अनुकूलन की क्षमता ही जीवन का एकमात्र रहस्य है - उसे विकसित करनेवाला अन्तर्निहित तत्व है। बाह्य शक्तियों द्वारा आत्मा को दमित करने की चेष्टा के विरुद्ध आत्मा के प्रयास का परिणाम ही अनुकूलन या समायोजन है। जो अपना सर्वोत्तम अनुकूलन कर लेता है, वह सर्वाधिक दीर्घजीवी होता है।

— स्वामी विवेकानन्द

शंकराचार्य-चरित (२)

स्वामी प्रेमेशानन्द

(लगभग बारह शताब्दियों पूर्व जब बौद्धधर्म की अवनति होने लगी थी और भारतवर्ष विभिन्न प्रकार के अनाचारों से परिपूर्ण हो गया, तभी श्रीमत् शंकराचार्य ने आविर्भूत होकर सनातन वैदिक धर्म में नव- प्राणों का संचार किया। इस नवजागरण के फलस्वरूप ही हिन्दूधर्म पुन: सबल होकर भावी आक्रमणों को झेलने में सक्षम हो सका। आज जो सनातन हिन्दूधर्म जीवित है तथा फल-फूल रहा है, इसका बहुत-कुछ श्रेय उन्हीं को जाता है। जो लोग समयाभाव या किसी अन्य कारण से श्री शकराचार्य की विस्तृत जीवनी पढ़ने में अक्षम हैं, उनके लिए रामकृष्ण सघ के वरिष्ठ सन्यासी स्वामी प्रेमेशानन्द ने बँगला में एक संक्षिप्त जीवनी लिखी थी, जिसका धारावाहिक अनुवाद 'विवेक-ज्योति' के पृष्ठों पर क्रमश:प्रकाशित किया जायेगा। - स.)

अध्याय तीसरा

साधना और सिद्धि

नर्मदाजी का तट योगियों की साधना का स्थान है। हजारों वर्षो से कितने ही योगियों ने वहाँ पर साधना कर सिद्धि की उपलब्धि की है। शंकर के जन्म से लगभग एक हजार वर्ष पूर्व से ही गोविन्द नाम के एक सिद्ध योगी नर्मदातट की एक गुफा में समाधिमग्न थे। शुकदेव की शिष्य परम्परा में गौड़पाद नाम के एक संन्यासी थे; गोविन्दपाद इन्हीं के शिष्य थे। ऐसी किम्वदन्ती थी कि ये योगी किसी दिव्य-कार्य को पूरा करने के लिए समाधिस्थ हैं और नर्मदा के प्रवाह को एक घड़े में भरकर रख सके ऐसा व्यक्ति यदि आकर उनका शिष्यत्व ग्रहण करे, तो इनकी समाधि टूट सकती है। उनकी समाधि भंग होने पर ज्ञान प्राप्ति की आशा में अथवा अहैतुकी शक्ति से प्रेरित होकर अनेक साधक उस गुफा के समीप निवास करते थे।

शंकर ने गोविन्दपाद का नाम सुन रखा था। बीच-बीच में न जाने क्यों उनके मन में इन योगी का दर्शन करने की प्रबल इच्छा होती थी। अब गृहत्याग के बाद उन्होंने मन-ही-मन गोविन्दपाद को अपने गुरु के रूप में वरण किया। उन्होंने पल भर के लिए भी विचार नहीं किया कि उनके समान बालक के लिए अकेले इतना लम्बा मार्ग पार करके गुरु के पास पहुँचना कितना कठिन है। नर्मदा तट को लक्ष्य बनाकर वे निरन्तर उत्तर दिशा की ओर चलने लगे।

कितनी ही नदियाँ, पर्वत, वन, नगर तथा मैदानों को पार करते हुए, कितने ही लोगों की बाधा तथा निषेध को अस्वीकार करते हुए और कितनी ही अनिद्रा तथा अनाहार सहते हुए बहुत दिनों तक चलकर शंकर नर्मदातट पर स्थित गोविन्दपाद की गुफा में पहुँचे। परम आग्रह के साथ उन्हें प्रणाम करके वे भक्तिगद्‌गद कण्ठ से गुरुदेव की स्तुति करने लगे। बड़े आश्चर्य की बात है कि धीरे-धीरे गोविन्दपाद की समाधि भंग हुई; पलकें उठाकर वे

स्थिरदृष्टि से बालक शंकर की ओर देखते रहे । इतनी आशा एवं उत्साह के साथ कठोर उद्यम के बाद शंकर को गुरु का दर्शन मिला था । आनन्दविह्वल होकर वे उनके चरणों में लोट गये । गुफा के समीप रहनेवाले योगीगण यह दृश्य देखकर आश्चर्यचकित रह गये ।

गुरु-शिष्य दोनों ही एक दूसरे को पाकर परम आह्लादित हुए । समाधि से उतरनेवाले योगीगण शुद्धचित्त व्यक्ति के अतिरिक्त किसी अन्य का संग सहन नहीं कर सकते और ऐसे शुद्धचित्त साधक भी सिद्ध पुरुष के अतिरिक्त किसी अन्य को गुरु का आसन नहीं प्रदान करते । गोविन्दपाद ने देखा कि यही वह अधिकारी है, जिसके लिए वे नरदेह में रहकर हजार वर्ष से प्रतीक्षा कर रहे थे; इसका देह-मन अति पवित्र और पूर्णज्ञान में सक्षम है । शंकर को भी अपने अन्तर में बोध हुआ कि ये ही उनके ज्ञानदाता सद्गुरु हैं। शिष्य पूरे मनोयोग से गुरु की सेवा में लग गये और गुरु भी सहस्र वर्षों से संचित अपनी अध्यात्म-सम्पदा बालक के हृदय में ढालने को आग्रही हुए ।

वर्षा का मौसम था । कई दिनों से निरन्तर वृष्टि के कारण नर्मद' का जलस्तर काफी बढ़ गया था । एक दिन जब गोविन्दपाद अपनी गुफा में समाधिमग्न थे, तभी नर्मदा का पानी खूब बढ़ने लगा और ऐसा प्रतीत होने लगा कि उनकी गुफा डूब जाएगी । ऐसी अवस्था में शिष्यगण कुछ ठीक नहीं कर पा रहे थे कि क्या किया जाए । एक ही उपाय उन लोगों की समझ में आ रहा था कि समाधिमग्न गुरुदेव को ही उठाकर अन्यत्र ले जाया जाए । परन्तु बालक शंकर इस सलाह-मशवरे में सम्मिलित न होकर एक अन्य उपाय में लगे हुए थे । उन्होंने एक घड़ा लाकर गुफा के द्वार पर रख दिया और जैसे पहले सरल विश्वास के साथ अलवाय नदी की धारा को मार्ग बदलने का अनुरोध किया था, वैसे ही दृढ़ विश्वास के साथ उन्होंने नर्मदा को भी उस कुम्भ में प्रविष्ट होकर स्थिर हो जाने की प्रार्थना की । जल की धारा सहसा पतली होकर कलकल ध्वनि के साथ तीव्र गति से घड़े में प्रविष्ट होने लगी । पानी का एक बूँद भी घड़े से छलककर बाहर नहीं गिरा । शंकर की अद्भुत योगसिद्धि देखकर सभी लोग स्तम्भित रह गये ।

शास्त्र-अध्ययन के दौरान जैसे सुन लेने मात्र से ही शंकर का सीखना हो जाता था, वैसे ही अब साधनाकाल में भी गुरु के उपदेशानुसार प्रयास करते ही उनका मन समाधिस्थ होने लगता था । गहन से गहनतर समाधि के सोपानों पर अनायास ही आरोहण करते हुए मन-बुद्धि के पार जाकर शंकर को निर्विकल्प समाधि की अनुभूति हुई । उन्हें बोध होने लगा कि उनका आदि, मध्य और अन्त नहीं है; उनके अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु का अस्तित्व नहीं है; वे एक अन्तहीन, अबाध निरन्तर अनुभूति मात्र – पूर्ण स्वतंत्र, पूर्ण स्वाधीन हैं; मन नहीं है, अत: कोई स्मृति भी नहीं है; भोग्य नहीं है, अत: भोक्ता भी नहीं है, अत: सुख भी नहीं है और दुख भी नहीं है; है तो केवल एक असीम शान्ति – जो एक अखण्ड सत्ता है, एक ज्ञेयहीन ज्ञान है और एक अनिर्वचनीय आनन्द है ।

शिष्य को चरम समाधि की उपलब्धि हो जाने पर गोविन्दपाद के आनन्द की सीमा न रही । पिछले हजार वर्षों से वे हृदय में रखकर जिस महारत्न की, काल के कराल हाथों से बड़े यत्नपूर्वक रक्षा करते आ रहे थे, आज उसे सुयोग्य शिष्य के हाथों सौंपकर वे निश्चिन्त

हुए । जिस दैवी-कार्य को सम्पन्न करने हेतु शंकर का आविर्भाव हुआ था, गोविन्दपाद ने अब उन्हें उसी में नियोजित करने का संकल्प किया ।

शंकर का मन-प्राण समाधि-सागर के अनन्त आनन्द-रस में निमग्न था, परन्तु एक अज्ञात आकर्षण उन्हें पुनः मानवीय जगत में उतार लाया । तब वे सम्पूर्ण विश्व को मृग-मरीचिका के समान भ्रान्तिमात्र बोध करने लगे; और समस्त जीवों को माया से भ्रमित होकर व्यर्थ कष्ट पाते देख उनके हृदय में प्रबल करुणा का उद्रेक हुआ ।

स्वामी गोन्दिपाद ने उनसे कहा, "द्वापर युग के अन्त में जब ब्रह्मविद्या लुप्तप्राय हो रही थी, तो भगवत्पाद महर्षि कृष्णद्वैपायन व्यासदेव ने उसकी रक्षा की थी । गुरु-परम्परा से वही विद्या मुझे प्राप्त हुई और साथ ही यह आदेश मिला कि बौद्ध-विप्लव के पश्चात तुम्हारा आविर्भाव होने पर मैं यह विद्या तुम्हें प्रदान करूँ । इसीलिए तुम्हारी प्रतीक्षा करता हुआ मैं इस गुफा में हजार वर्ष तक समाधिमग्न रहा । अब तुम वेद के मतानुसार ब्रह्मसूत्रों[१] के एक भाष्य की रचना करो और शिष्यों को ब्रह्मविद्या की शिक्षा देकर अपने जीवन का उद्देश्य सफल करो ।" शंकर को वाराणसी में जाकर अपना कार्य आरम्भ करने का उपदेश देकर गोविन्दपाद महासमाधि में लीन हुए ।

प्रचार

बौद्ध धर्म के प्रभाव से जिस प्रकार वैदिक धर्म लुप्तप्राय हो गया था, वैसे ही अधिकांश तीर्थ भी परित्यक्त और विस्मृत हो गये थे । कहते हैं कि काशीधाम उन दिनों अरण्य में परिणत हो गया था और ग्वाले वहाँ गायें चराया करते थे । यह किम्वदन्ती पूर्णतः सत्य न हो, तो भी इसमें कोई सन्देह नहीं कि उन दिनों काशीधाम की अवस्था बड़ी शोचनीय थी । गुरु का आदेश पाकर शंकर वहाँ जा पहुँचे । चारों ओर यह समाचार फैल गया कि एक बाल-संन्यासी युवकों, प्रौढ़ों तथा वृद्धों को अत्यन्त पाण्डित्य के साथ शास्त्र पढ़ा रहा है और दल-के-दल लोग इस अद्‌भुत बालक को देखने उमड़ पड़े ।

निर्विकल्प समाधि के द्वारा निर्गुण ब्रह्म की अनुभूति कर लेने के कारण शंकर को बोध होने लगा कि यह विश्व स्वप्न में देखी गयी नगरी के समान नितान्त अस्वाभाविक है, मृग-मरीचिका के समान भ्रान्ति मात्र है । कभी-कभी उन्हें बोध होता कि यह जगत स्वतः उच्छ्वसित तथा उद्वेलित एक जड़समुद्र है, इसमें चैतन्य का लेश तक नहीं है; इसका कोई प्रयोजन या उद्देश्य नहीं है; देह, मन, बुद्धि आदि – सब कुछ 'मैं' से स्वतंत्र है, कठोर वैराग्य की सहायता से इनसे मुक्त होकर निर्गुण ब्रह्मसमुद्र में लीन होना ही मनुष्य के लिए शान्तिलाभ का एकमात्र उपाय है । भक्ति एवं उपासना की बात उनके मन में उदित नहीं हुई। उनका मन समाधिसागर से निकलने को इच्छुक नहीं था । किसी अनिर्वचनीय कारणवश कभी-कभी चित्समुद्र में माया की छाया पड़ने से, जब कभी उनके हृदय में 'मैं-मैं' का बोध आता था, तब हृदय में तीव्र करुणा का उदय होने पर भी, कठोर वैराग्य उत्थित होकर उसे ग्रस लेता था । वे केवल गुरु का स्मरण करके ही यन्त्रवत् शिष्यों को उपदेश देने लगे; इसमें उनका अपना आग्रह या उत्साह आदि कुछ भी न था ।

---

१. ब्रह्मविद्या-शास्त्र को उपनिषद् कहते हैं । उसमें अनेक दुर्बोध बातें हैं । महर्षि द्वैपायन व्यास ने उपनिषदों को बोधगम्य बनाने के लिए एक सूत्रमय व्याख्या रची । उन्हीं को ब्रह्मसूत्र या वेदान्तसूत्र कहते हैं ।

शंकर की उदासीनता दूर करके उनके चित्त में लोकहित के लिए प्रबल आग्रह जगाने हेतु काशीश्वरी माँ अन्नपूर्णा ने एक विचित्र उपाय से उन्हें सगुण ब्रह्म का तत्त्व समझाया।

एक दिन गंगास्नान को जाते समय शंकर ने देखा कि एक युवती बीच रास्ते में अपने पति की मृतदेह रखकर उसके अन्तिम संस्कार हेतु लोगों से सहायता माँग रही है। लोगों के आवागमन में असुविधा होते देख शंकर ने युवती को शव एक किनारे खिसका लेने को कहा। युवती ने कहा, "उसे स्वयं ही खिसक जाने को कह दो न, बेटा!" युवती की मूर्खता पर नाराज होकर शंकर ने कहा, "इस मृतदेह में क्या हिलने-डुलने की शक्ति है? इसे किनारे कर दो।"

युवती ने पूर्ववत गम्भीरता के साथ कहा, "शक्ति के बिना क्या थोड़ा-सा भी हिला नहीं जा सकता?" शंकर और भी आपा खोते हुए बोले, "क्या असम्भव बात कह रही हो?" युवती बोली, "असम्भव क्यों होगा, बेटा? आदि-अन्त-हीन यह प्रकृति यदि शक्तिहीन, चैतन्यहीन होकर भी हिल-डुल सकती है, तो इतना-सा शव क्यों नहीं खिसक सकेगा?"

शंकर यह सुनकर भौचक्के रह गये। ऐसी बात नहीं कि शास्त्र में कही गयी सगुण ब्रह्म की बात उनके मन में उठती न थी; परन्तु निर्गुण ब्रह्मानुभूति के प्रवाह में पड़े वे अब तक उस ओर ध्यान ही नहीं दे सके थे। अब उनके उसी के चिन्तन में डूब जाने पर वह शव तथा युवती दोनों ही अदृश्य हो गये और उनकी आँखों के सामने से अचानक एक परदा-सा उठ गया। उन्होंने देखा कि वही निर्गुण ब्रह्म सामने, पीछे, ऊपर, नीचे – सब कुछ परिपूर्ण करते हुए एक विराट मूर्ति में गुणमय होकर विराजमान है; यह अखिल ब्रह्माण्ड उनका शरीर है और वे लीला मात्र के लिए ही सृष्टि-स्थिति-प्रलय आदि कार्यों में रत हैं। शंकर के हृदय में सागर की तरंगों के समान भक्ति की ऊर्मियाँ उत्थित होने लगीं, शरीर रोमांचित हो उठा, नेत्रों से अश्रु झरने लगे, अन्दर-बाहर सर्वत्र आद्याशक्ति का अनुभव कर वे अस्फुट स्वर में 'माँ, माँ' कहते हुए व्याकुल हो गये। इस घटना ने उनके हृदय में यह तथ्य दृढ़तापूर्वक अंकित कर दिया कि निर्गुण ब्रह्म ही सगुण सक्रिय ब्रह्मशक्ति भी है।

शंकर ने ब्रह्म के निर्गुण और सगुण दोनों ही भावों की प्रत्यक्षानुभूति की थी, तथापि ज्ञान का पूर्ण विकास होने पर परिपक्व अवस्था में जो निरन्तर ब्रह्मानुभव होता है, उससे वे अब भी वंचित थे। सहज अवस्था में अब भी ब्राह्म-चाण्डाल, ग्राह्य-त्याज्य आदि भाव उन्हें पीड़ित किया करते थे। वे वेदों का उद्धार करने को अवतीर्ण हुए थे, अतः उनके लिए ज्ञान की चरम सीमा तक पहुँचना आवश्यक था, इसीलिए इस बार स्वयं महादेव ही शंकर की शिक्षा में प्रवृत्त हुए।

घटना कुछ इस प्रकार हुई। एक बार गंगातट की ओर जाते समय मार्ग में शंकर के सामने एक चाण्डाल आ गया। वह चाण्डाल चार कुत्तों को साथ लिए नशे में मतवाला होकर पूरे रास्ते पर अधिकार किये हुए चला आ रहा था। कुत्तों और चाण्डाल से स्पर्श न हो जाए इस भय से संकुचित हो शंकर रास्ते के एक किनारे खड़े हो गये और चाण्डाल से पथ छोड़ देने को कहा। परन्तु चाण्डाल उसी प्रकार चलते हुए वेदान्त के उच्च तत्त्व कहने लगा। वह बोला, "कौन किसका स्पर्श करेगा? एक छोड़ दूसरी वस्तु ही कहाँ है? तुम किसके स्पर्श-भय से संकुचित हो रहे हो? आत्मा तो किसी का स्पर्श नहीं करती, उसका

भी कोई स्पर्श नहीं कर सकता ।'' चाण्डाल के मुख से ऐसे ज्ञान की बात सुनकर शंकर अद्वैतबोध और अपने व्यवहार की असंगति को समझकर लज्जित हो गये ।

गुरुज्ञान से चाण्डाल के चरणों में उनके अवनत होते ही उसने रजतगिरि के समान श्वेतकाय सदाशिव का रूप धारण कर लिया । भगवान शिव पर दृष्टि पड़ते ही शंकर सम्पूर्ण जगत को शिवमय देखने लगे । उन्हें बोध हुआ कि ब्रह्माण्ड में सब कुछ चैतन्यमय है, जड़ कुछ भी नहीं; कुण्डल, वलय आदि आभूषण एक ही स्वर्ण से निर्मित हैं, वैसे ही चैतन्य से सृष्टि की सारी चीजें निर्मित हैं । चारों ओर के मन्दिर उन्हें जीवन्त दिखने लगे; काष्ठ, पत्थर, यहाँ तक कि धूलिकण तक जीवन्त और जाग्रत प्रतीत होने लगे । उनकी दृष्टि जिधर भी गयी, उन्हें चेतन छोड़ कहीं जड़ नहीं दीख पड़ा । अपना शरीर, मन, बुद्धि आदि सब कुछ उन्हें चैतन्यमय बोध होने लगा । कहीं पर थोड़ा-सा 'मैं' बोध रह जाने के कारण उन्हें विविध वस्तुओं के आकार मात्र दीख रहे थे, उस 'अहं' का क्षण भर में विलोप हो जाए, तब सारे अनुभव भी समाप्त हो जाते । निर्गुण और निष्क्रिय ब्रह्म का ही एक अन्य रूप में अनुभूति कर शंकर आनन्दविभोर हो गये । अनुभूति का प्रथम वेग प्रशमित हो जाने पर महादेव ने शंकर को आशीर्वाद दिया और वेदान्त-प्रचार में लग जाने का उपदेश देकर अन्तर्धान हो गये ।

अब से शंकर की एक अद्‌भुत अवस्था हो गयी । कभी वे बाह्य ज्ञान खोकर जड़वत् प्रतीत होते, कभी भगवद्भक्ति से विह्वल हो जाते और कभी जीवों के दुख से द्रवित होकर लोगों में ज्ञान-वितरण करने को व्यग्र हो उठते । शिष्यगण परम यत्न और बड़ी सावधानी के साथ उनकी सेवा करने लगे ।

क्रमशः इन अनुभूतियों में थोड़ी कमी होने लगी और उनके शरीर में 'मैं'-बोध थोड़ा-थोड़ा लौट आया । परन्तु वह थोड़ा-सा अहंकार ही मानो समाधि-सागर में निरन्तर डूबने-उतराने लगा । इसी को 'विद्या का मैं' कहते हैं । इस 'मैं' में दया के अतिरिक्त दूसरी कोई भी वृत्ति नहीं रह जाती । ईश्वर से प्राप्त उस दयावृत्ति से प्रेरित होकर शंकर कार्य में लग गये । परन्तु किसी भी कार्य के प्रति उन्हें अनुराग या विराग का बोध नहीं होता था, मन में वासना का लेश तक नहीं उदित होता था । अब वे स्वार्थबोध-रहित भगवान के हाथों के यंत्र मात्र हो गये ।

दल-के-दल लोग शंकर के उपदेश सुनने को आने लगे । वे भी उत्साहपूर्वक आगन्तुकों को शिक्षा देने में प्रवृत्त हुए । अनेक लोग उनके शिष्य हुए । चित्सुक, आनन्दगिरि आदि संसार-विरागी योगीगण आकर उनके पास आकर जुटने लगे । एक दिन एक अजीब प्रियदर्शन बालक आकर शंकर के चरणों में पड़ गया । उसके सविनय व्यवहार और अपूर्व मुखकान्ति से उसके अन्तर का निर्मल भाव अभिव्यक्त हो रहा था । सनन्दन था उसका नाम । मैसूर के दक्षिण में कावेरीतट के चोलप्रदेश में उसका जन्म हुआ था । बचपन से ही वह भगवान की प्राप्ति के लिए व्याकुल था । काफी काल तक एक पर्वत पर एकाकी रहकर उसने नृसिंहदेव की आराधना की थी । किसी महापुरुष की कृपा से उसे इष्टलाभ हुआ । नृसिंह भगवान ने उसे वर दिया कि वह जब भी स्मरण करेगा, तभी उनका दर्शन पायेगा । परन्तु इससे उसे शान्ति नहीं मिली । मन कामनाओं से चंचल होकर उसे पीड़ित करने

लगा । इष्टदेव को अपनी मनोवेदना बताने पर उन्होंने कहा, "मानव मात्र को शान्ति देने के लिए महादेव स्वयं ही धरा पर अवतीर्ण हुए हैं । तुम जाकर उनका आश्रय प्राप्त करो ।" इसीलिए सनन्दन उन्हें ढूँढ़ते हुए सैकड़ों कोस का पथ पार करते हुए काशी में आये और तन-मन तथा वाणी से गुरुसेवा, शास्त्रपाठ तथा साधना में लग गये ।

शंकर के पास न केवल जिज्ञासु मुमुक्षुगण, अपितु शास्त्रचर्चा करने पण्डितगण तथा विविध मतों पर तर्क करने विभिन्न सम्प्रदायों के लोग भी आया करते थे । बारह वर्ष के इस बालक का असाधारण पाण्डित्य, वाग्विदग्धता तथा असीम ज्ञान देखकर सभी विस्मित रह जाते । बालक तर्क में अजेय, शास्त्र-व्याख्या में सरस्वती और ज्ञान-गाम्भीर्य में शिव के तुल्य था । उन्हें कोई मनुष्य समझता ही न था । उनके मुखमण्डल पर स्वर्गीय आभा थी, उनके मधुर कण्ठ में गम्भीरता का समावेश था और प्रत्येक चाल-चलन में सिंह-समान तेजस्विता के साथ ही बाल-सुलभ लालित्य का सम्मिश्रण था । बालक की सौम्य मुखश्री का प्रथम दर्शन ही सबके हृदय में स्नेह-रस का संचार करता, तदुपरान्त उसके असंख्य गुण मन को मोहित कर लेते ।

भाष्य-रचना

गुरु और महादेव के आदेश पर शंकर ने सर्वप्रथम वेदान्त शास्त्र की व्याख्या लिखना आरम्भ किया, परन्तु काशी में इतने लोगों के आवागमन के बीच ग्रन्थ-लेखन सम्भव न था, अत: निर्जन में शास्त्र-चिन्तन तथा व्याख्या-प्रणयन के निमित्त वे अपने शिष्यों के साथ बद्रिकाश्रम चले गये । वहाँ पर उन्होंने उपनिषद्, गीता और ब्रह्मसूत्र पर 'भाष्य'[२] नामक व्याख्या लिखी । शिष्यगण गुरु के साथ रहकर मोक्षशास्त्र का अध्ययन और शंकर द्वारा प्रचारित अद्वैततत्त्व पर विचार तथा साधना सीखने लगे । इन्हीं सब कार्यों में आचार्यदेव के लगभग चार वर्ष बीत गये ।

पद्मपाद

उनके शिष्यों में सनन्दन ही सर्वाधिक बुद्धिमान और गुरु-सेवा-परायण थे । क्षण भर के लिए भी वे गुरुदेव का संग नहीं छोड़ते थे । इसके फलस्वरूप आचार्य रचित भाष्यों को अधिक पढ़ने तथा उनका मर्म भलीभाँति समझने का अवसर उन्हें अन्य शिष्यों की अपेक्षा अधिक मिला था । इस कारण उनके गुरुभ्रातागण उनसे ईर्ष्या करने लगे । शंकर ने इसे समझ लिया और एक उपाय के द्वारा उन लोगों का यह भ्रम दूर कर दिया ।

एक दिन सनन्दन किसी कार्यवश अलकनन्दा नदी के उस पार गये हुए थे, तभी शंकर किसी आवश्यकता से उनका नाम लेकर पुकारने लगे । गुरु की पुकार सुनकर सनन्दन इतने व्याकुल हो गये कि सामने बह रही नदी की बात भूलकर वे सीधे दौड़ते हुए गुरु की ओर आने लगे । उच्च स्वर में गुरु की पुकार सुनकर वहाँ उपस्थित सभी शिष्यों की दृष्टि सनन्दन की ओर उन्मुख हुई । उन्होंने देखा कि सनन्दन के प्रत्येक कदम रखने के पूर्व ही नदीगर्भ

---

२. शास्त्र-व्याख्या के द्वारा अपने दार्शनिक मत की स्थापना के हेतु अन्य पक्षों के मत का खण्डन तथा स्वपक्ष समर्थक युक्ति तथा वेदादि शास्त्र से प्रमाण प्रदर्शित करने पर उस व्याख्या को भाष्य कहते हैं, यथा – शंकर-भाष्य, रामानुज-भाष्य । सामान्य रूप से शास्त्र की व्याख्या करने पर उसे टीका कहते हैं, यथा – श्रीधर स्वामी की टीका, आनन्दगिरि की टीका ।

से एक-एक पद्म खिलकर उनके चरण रखने के लिए जगह बनाता जा रहा है । उसी तन्मयता में डूबे सनन्दन गुरु के पास आ पहुँचे । इसे देख ईर्ष्यालु शिष्यगण सनन्दन का प्रभाव समझकर मन-ही-मन लज्जित हुए । तभी से उनका नाम हुआ – पद्मपाद ।

पुनः काशी में

शंकर की आयु अब समाप्तप्राय थी । गुरु के आदेश का उन्होंने यथासाध्य पालन किया था । जब तक सूखे पत्ते के समान शरीर गिर नहीं पड़ता, तब तक धर्मप्रचार करते हुए शिवक्षेत्र वाराणसी में रहकर ब्रह्मनिर्वाण प्राप्त करने के लिए वे बदरिकाश्रम से विदा हुए । शंकर के काशी पहुँचने का संवाद पाकर पुनः वहाँ धर्म-पिपासुओं का ताँता लग गया । पुनः तर्क-वितर्क, वेदान्त-व्याख्या, शिष्यत्व-ग्रहण आदि कार्य दुगने वेग से चलने लगे ।

वेदव्यास का आदेश

एक दिन एक वृद्ध ब्राह्मण आकर ब्रह्मसूत्र की एक व्याख्या के बारे में उनके साथ तर्क करने लगे । वे भी शंकर के समान ही महाज्ञानी प्रतीत हो रहे थे । बालक और वृद्ध के बीच का तर्क क्रमशः गम्भीर हो उठा । दोनों को ही वेद-वेदान्त कण्ठस्थ थे और दोनों की बुद्धि कुशाग्र के समान सूक्ष्म थी । वे दोनों इतने मतवाले हो उठे कि नित्यकर्म के समय को छोड़ निरन्तर आठ दिनों तक उनके बीच तर्क का स्रोत प्रवाहित होता रहा । पण्डितगण वह अभूतपूर्व तर्क सुनने का आग्रह लेकर स्थिर चित्त से बैठे रहते । तर्क क्रमशः इतने सूक्ष्म विषय तक जा पहुँचा कि वह पण्डितों के लिए भी दुर्बोध्य हो उठा ।

पद्मपाद के मन में एक घोर सन्देह का उदय हुआ और वह यह कि सामान्य मनुष्य में इन वृद्ध ब्राह्मण के समान विद्या-बुद्धि का होना सम्भव नहीं । इस वृद्धावस्था में भी इनका शास्त्र-चर्चा में इतना प्रबल उत्साह है और तीक्ष्ण स्मरण-शक्ति में थोड़ा-सा भी ह्रास नहीं आया है । इनकी युक्तियाँ अतीव प्रखर तथा अकाट्य हैं और हर उक्ति में कवित्व है । मानो इन्होंने सम्पूर्ण जीवन वेदादि शास्त्रों का अध्ययन तथा काव्यचर्चा में लगे रहकर इन सब विषयों का असीम ज्ञान प्राप्त किया है । ये व्यासदेव को छोड़कर भला दूसरे कौन हो सकते हैं? उनके विषय में शंकर के मन में भी ऐसा सन्देह जन्मा था । पद्मपाद का मनोभाव सुनकर उनका सन्देह और भी दृढ़ हो गया । आठवें दिन शंकर ने विनम्रतापूर्वक ब्राह्मण का परिचय पूछा । व्यासदेव अब स्वयं को छिपाये न रख सके । आचार्य शंकर अतीव आनन्द के साथ उनकी स्तुति करने लगे । व्यासदेव ने भी स्नेहार्द्र होकर शंकर को प्रभूत आशीर्वाद दिया । शंकर ने अपने भाष्य से प्रमुख अंश पढ़कर उन्हें सुनाये । व्यासदेव ने शंकर की अपूर्व तथा प्रांजल व्याख्या की खूब प्रशंसा की ।

शंकर का कार्य पूरा हो चुका था और आयु भी समाप्त हो चली थी । संयोग तथा सौभाग्यवश आज व्यासदेव भी उपस्थित थे; शंकर ने उन्हीं की उपस्थिति में महासमाधि लेने की इच्छा व्यक्त की । शिष्यगण अपने गुरुदेव के अल्पायु होने की बात जानते थे; तथापि आज इस आनन्द के बीच यह दुखद बात सुनकर वे सभी असहाय तथा शोकार्त होकर सजल नेत्रों से व्यासदेव की ओर देखने लगे । त्रिकालज्ञ महर्षि प्रसन्नचित्त से कहने लगे, "वत्स शंकर, यह सत्य है कि तुमने वेदों का मर्मार्थ अपने ग्रन्थ में लिखा है तथा अपने शिष्यों को बताया है, परन्तु इतने से ही क्या वेदों का उद्धार हो गया? यदि तुम

इसका प्रचार न करो तो तुम्हारा मत भी अन्यान्य मतों के समान ही केवल एक लघु सम्प्रदाय का मत जैसा रह जायेगा। भारत में सैकड़ों धर्ममत उत्पन्न हुए हैं। मेरे ब्रह्मसूत्र की कितनी ही गलत व्याख्याएँ प्रचलित हैं और वैदिक-मत के नाम पर कितने ही प्रकार के अनाचार मनुष्य का सर्वनाश कर रहे हैं। यदि तुम स्वयं ही इन समस्त मतावलम्बियों के साथ शास्त्रार्थ करके उन्हें परास्त न करो और यह ठीक-ठीक प्रमाणित न कर दो कि तुम्हारे द्वारा व्याख्यात वेदोक्त ब्रह्मविद्या ही ऋषिसम्मत सर्वोत्तम धर्म है, तो तुम्हारी भाष्य-रचना निष्फल हो चली जायेगी।"

उन्होंने और भी कहा, "कुमारिल की आप्राण चेष्टा से नास्तिक बौद्धों का प्रभाव थोड़ा-बहुत घटा तो है, परन्तु अब भी उनकी संख्या नगण्य नहीं है; विशेषकर उनके मत का प्रभाव अब भी प्रबल है। और कुमारिल ने भी वेदों के केवल कर्मकाण्ड का ही प्रचार किया है। ज्ञानकाण्ड का भलीभाँति प्रचार हुए बिना बौद्ध धर्म का प्रभाव देश से दूर नहीं होगा और धर्म की ग्लानि भी समाप्त नहीं होगी।

"यदि तुम सोचते हो कि तुम्हारे मेधावी शिष्यगण विरुद्ध मतावलम्बियों को तर्क में परास्त कर ब्रह्मविद्या का प्रचार करने में सक्षम हैं, तो मैं पूछता हूँ कि क्या तर्क में परास्त कर देने मात्र से ही धर्म का प्रचार हो जाता है? ब्रह्मतत्त्व क्या केवल तर्क द्वारा ही प्रचारित होता है और उत्कृष्ट मत के रूप में उसकी प्रतिष्ठा हो जाने से ही क्या धर्मरक्षा हो जाती है? अद्वैत-ब्रह्म की अनुभूति कराने की जो महाशक्ति तुम्हारे भीतर प्रकट हुई है, उसे वितरण किये बिना लोग ब्रह्मविद्या को कैसे समझेंगे और केवल तर्क-युक्ति के द्वारा समझाने से भला क्या उपकार होगा?

"अतएव तुम ब्रह्मविद्या के प्रचार तथा वितरण के हेतु और भी कुछ काल के लिए मानव-शरीर में निवास करो। मैं आशीर्वाद देता हूँ कि तुम्हारी आयु और भी सोलह वर्ष बढ़ जाए और तुम सर्वत्र जयलाभ करो। कुमारिल भट्ट अब भी जीवित हैं। वेद के कर्मकाण्ड से ज्ञानकाण्ड की श्रेष्ठता प्रमाणित करने के लिए तुम सर्वप्रथम प्रयाग जाओ और कुमारिल को परास्त करके अपना मतावलम्बी बनाओ।"

शंकर में अहं-बोध बिल्कुल भी न था, इसीलिए किसी भी विषय में उनकी प्रवृत्ति या अप्रवृत्ति नहीं थी। जैसे स्थिर चित्त से वे देहत्याग को प्रस्तुत हो रहे थे, वैसे ही स्थिर चित्त के साथ उन्होंने महर्षि वेदव्यास का आदेश भी स्वीकार किया। व्यासदेव उन्हें आशीष देकर अन्तर्धान हो गये। शिष्यगण आनन्दमग्न होकर आचार्यदेव की विजय-लीला देखने को उत्सुक हो उठे।

□(क्रमशः)□
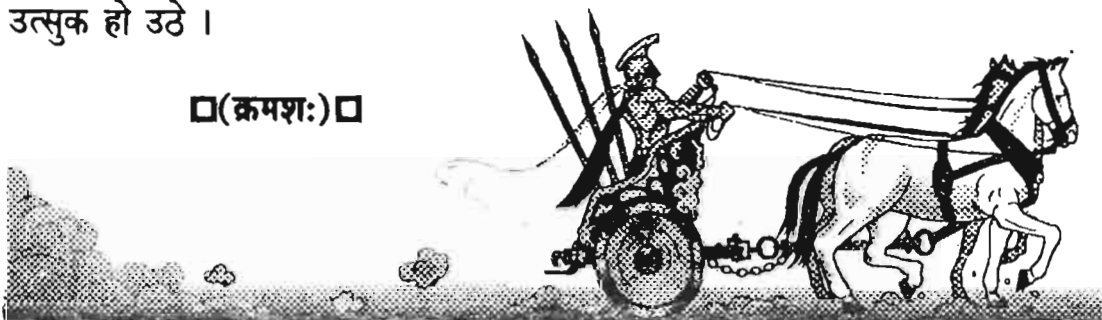
माँ के सान्निध्य में (४५)

सरयूबाला देवी

(मूल बँगला ग्रन्थ 'श्रीश्री मायेर कथा' के प्रथम भाग से इस अंश का अनुवाद किया है स्वामी निखिलात्मानन्द ने, जो सम्प्रति रामकृष्ण मठ, इलाहाबाद के अध्यक्ष हैं । – सं.)

१९ सितम्बर १९१८

रात के लगभग साढ़े आठ बजे थे । माँ के तख्त के पास नीचे चटाई बिछी हुई है । माँ सोने की तैयारी कर रही हैं । मेरे जाते ही वे बोलीं, "आओ, आओ, मेरे पास आकर बैठो । सरला! इसे थोड़ी-सी मिठाई के साथ पीने को पानी दो, दिन भर परिश्रम करने के बाद दौड़ी हुई आयी है ।" मैंने पानी पीने में आपत्ति व्यक्त की, परन्तु उनके कानों पर जूँ तक नहीं रेंगी; बोलीं, "शरीर की ओर थोड़ा ध्यान रखना पड़ता है, बेटी; सुमति तीन बच्चों की माँ होकर ही मानो बूढ़ी हो गयी है ।" माँ अपने घमौरियों का प्रसंग उठाकर बोलीं, "यह क्या हुआ बेटी, लोगों का होता है और चला जाता है; परन्तु मुझे जो होता है, वह छोड़ना नहीं चाहता । ठाकुर कहा करते थे, 'लोग अपने रोग, शोक, पाप, ताप आदि लिए न जाने क्या क्या करके आकर छूते हैं; वही सब इस शरीर में आश्रय बना लेता है' – सो ठीक ही है बेटी, मेरा भी लगता है वैसा ही होगा । ठाकुर उस समय बीमार थे । कुछ भक्त लोग (दक्षिणेश्वर में) माँ (काली) की पूजा में देने की सामग्री ले आये थे । जब उन्हें पता चला कि ठाकुर काशीपुर में हैं, तो ठाकुर के चित्र के सामने ही भोग लगाकर उन लोगों ने प्रसाद पाया । ठाकुर कहने लगे, 'देखती हो न, कैसा अनर्थ किया है! जगदम्बा के लिए लाकर यहीं सब दे दिया ।'[१] मैं तो भय से मरी जा रही थी, सोच रही थी – वे बीमार तो हैं ही, न जाने क्या होगा । ठाकुर बार बार यही कहे जा रहे थे – यह क्या भाई, क्यों उन लोगों ने ऐसा किया! फिर काफी रात हो जाने पर उन्होंने मुझसे कहा, 'देखो, इसके बाद घर घर में मेरा पूजन होगा । बाद में देखोगी – इसी को (मुझे) सब मानेंगे, तुम बिल्कुल भी चिन्ता मत करो ।' उसी समय मैंने पहली बार उन्हें 'मेरा' कहते सुना । वे कभी 'मेरा' नहीं कहते थे । 'यह खोल' या फिर अपने शरीर को दिखाते हुए 'इसका' – यही कहा करते थे ।

"संसार में मैंने कितने ही तरह के लोग देखे । त्रैलोक्य[२] मुझे सात रुपये दिया करता था। ठाकुर के देहत्याग के बाद (दक्षिणेश्वर के) दीनू खजांची तथा अन्य सभी ने मिलकर वे रुपये बन्द कर दिये ।[३] सगे-सम्बन्धी जो थे, उन्होंने भी साधारण मनुष्य ही समझा और

---

१. यह घटना काशीपुर में हुई थी । एक दिन कुछ भक्त माँ-काली के लिए मिठाइयाँ तथा अन्य अनेक प्रकार की भोजन की वस्तुएँ लेकर आये और वहाँ हॉल में ठाकुर के चित्र के सामने उन्हें भोग दिया था।

२. त्रैलोक्य विश्वास रानी रासमणि के दामाद मथुरबाबू के पुत्र थे । ठाकुर जब पूजा करने में असमर्थ हो गये, तब से उनके वेतन के रुपये बन्द न करके वे उन्हें माताजी को दे दिया करते थे ।

३. माँ उस समय वृन्दावन में थीं । इस विषय में पत्र पाकर माँ ने कहा था, "बन्द किया है तो करने दो । जब ऐसे ठाकुर ही चले गये, तो फिर मैं रुपये लेकर ही क्या करूँगी ।"।

उन्हीं लोगों के साथ मिल गये । नरेन ने कितना ही कहा, 'माँ के रुपये बन्द मत करो'; तो भी बन्द कर दिया । परन्तु इधर ठाकुर की इच्छा से अब देखो ऐसे कितने आये गये! दीनू-छीनू सब कहाँ चले गये । मुझे तो अब तक कोई कष्ट नहीं हुआ । और होगा भी क्यों? ठाकुर ने मुझसे कहा था, 'जो मेरा चिन्तन करता है, उसे कभी खाने का कष्ट नहीं होता ।'

"ठाकुर के देहत्याग के बाद उनकी सारी अच्छी अच्छी चीजें – कपड़े-लत्ते, कुर्ते आदि कौन लेगा, इस बात को लेकर मतभेद हुआ । यह सब तो भक्तों का धन है, वे लोग यह चिरकाल तक यत्नपूर्वक रखेंगे! उन्हीं लोगों ने अन्त में वह सब समेट लिया और संदूक में भरकर बलराम बाबू के बैठके में लाकर रखा । परन्तु बेटी, ठाकुर की न जाने क्या इच्छा थी कि वहाँ नौकरों में से किसी ने उसे खोल लिया और उसमें से बहुत-सी चीजें निकालकर बेच डाली और न जाने क्या-क्या किया! ये सब चीजें क्या बैठके में रखी जाती हैं? घर के भीतर भी तो रखी जा सकती थीं । उनके उपयोग की बची हुई चीजें तथा कपड़े अब बेलूड़ मठ में हैं ।

"मेरे ससुर बड़े ही तेजस्वी, निष्ठावान ब्राह्मण थे, बेटी । वे अपरिग्रही थे । घर में भी कोई कुछ देने आया, तो मना कर देते थे । परन्तु मेरी सास को यदि कोई कुछ छिपाकर दे जाता, तो वे उसे पकाकर रघुवीर को भोग देने के बाद सबको प्रसाद के रूप में बाँट देतीं । ससुर को इसका पता चलने पर वे बड़े नाराज होते । परन्तु उनमें ज्वलन्त भक्ति थी । माँ शीतला उनके साथ-साथ फिरती थीं । उन्हें रात के अन्तिम पहर में उठकर फूल तोड़ने जाने की आदत थी । एक दिन वे लाहा लोगों के उद्यान में गये थे । वहाँ एक नौ वर्ष की बालिका ने आकर कहा, 'बाबा, इधर आओ । इधर की डाली में खूब फूल हैं । मैं इसे नवाए रहती हूँ, तुम तोड़ो ।' वे बोले, 'इस समय यहाँ पर तुम कहाँ से आयी हो, बेटी?' उसने कहा, 'मैं तो, मैं इन हालदार लोगों के घर की हूँ ।' वे ऐसे थे इसीलिए भगवान आकर उनके घर में जन्मे थे । वे आये थे और नरेन, राखाल, बलराम, भवनाथ, मनोमोहन आदि उनके सांगोपांग लोग भी आये थे – कितना कहूँ बेटी! छोटा नरेन बाद में कामिनी-कांचन में बड़ा आसक्त हो गया, रुपये-पैसे में उलझ गया । ठाकुर इनमें से जिन-जिन के बारे में जो-जो कह गये हैं, वह सब अक्षरशः सत्य हुआ है ।

"हरिदासी नाम की एक लड़की नवद्वीप जाने के लिए कामारपुकुर में आयी और वहीं रह गयी । मुझसे वह कितना प्रेम करती थी! उसमें कितना विश्वास था, बेटी! उसने ठाकुर के जन्मस्थान की मिट्टी उठाकर रख ली थी, कहती, 'यही तो नवद्वीप है, स्वयं चैतन्यदेव यहीं आये थे । अब नवद्वीप क्या करने जाऊँगी?' अहा, क्या ही विश्वास है!

"ठाकुर के देहत्याग के बाद एक उड़िया साधु कामारपुकुर में आकर ठहरे थे । मैं चावल, दाल आदि उन्हें जो भी आवश्यकता होती, सब देती और सुबह-शाम खबर लेती, 'साधु बाबा, कैसे है आप?' अहा, कितनी तकलीफ उठाकर बेटी, मैंने उनके लिए एक कुटिया बना दी थी । उन दिनों रोज आकाश में मेघ छा जाते – लगता था कि अब वर्षा होगी, तब वर्षा होगी । तब मैं हाथ जोड़कर कहती, 'ठाकुर, बचाओ, बचाओ; उनकी कुटिया हो जाय, उसके बाद जितनी इच्छा हो, ढालना ।' गाँव के लोगों ने भी काठ-खर आदि जो कुछ हो सका, देकर सहायता की थी । प्रतिदिन, वर्षा आयेगी, आयेगी – ऐसा

लगता था । जो भी हो, इसी प्रकार कुटिया तो बन गयी, परन्तु इसके कुछ दिनों बाद ही उन साधु ने उसी कुटिया में देहत्याग कर दिया ।''

माँ कह रही हैं, ''चलो, अब कमरे में चलें ।'' उठते उठते बोलीं, ''ठाकुर कहते थे, 'यह शरीर गया से आया है ।' उनकी माँ का देहान्त हो जाने के बाद उन्होंने मुझसे कहा था, 'तुम गया जाकर पिण्ड दे आओ ।' मैं बोली, 'पुत्र के रहते मैं दूँगी, ऐसा भी क्या होता है?' ठाकुर बोले, 'होगा जी, मेरे क्या वहाँ जाने का उपाय है? जाने से क्या फिर लौट सकूँगा?' मैं बोली, 'तो फिर जाने का जरूरत नहीं ।' बाद में गया[४] करने मैं ही गयी थी ।''

रात के लगभग नौ बजे थे । मैंने प्रणाम करके विदा ली ।

२० सितम्बर १९१८

आज भी मैं माँ का दर्शन करने गयी थी । देखते ही माँ ने कहा, ''आयी हो बेटी, बैठो ।'' इसके बाद उन्होने नवासन की बहू से कहा, ''तेल लायी हो न? थोड़ा पीठ में मालिश कर दो तो, बहू ।'' बहू द्वारा मुझे देने को कहने पर माँ बोलीं, ''अहा ! यह सारे दिन परिश्रम करने के बाद दौड़ी आयी है, इसे थोड़ा विश्राम करने दो । (मुझसे) बैठो बेटी, बैठो । ये लोग भास्करानन्द की बात कर रहे थे । मैं भी काशी में उन्हें देखने गयी थी । साथ में अनेक महिलाएँ थीं । ठाकुर के देहत्याग के बाद उन दिनों मेरा मन बड़ा दुखी था । तभी पहली बार वृन्दावन गयी थी । सो जब मैं भास्करानन्द के यहाँ गयी, तो देखा कि निर्विकार महापुरुष दिगम्बर बैठे हुए हैं । हमारे जाते ही उन्होंने महिलाओं से कहा, 'शंका मत करो, माई । तुम सभी जगदम्बा हो, शरम किस बात की? यह इन्द्रिय? इसके लिए? जैसे हाथ की पाँच अँगुलियाँ हैं, वैसे ही एक यह भी है ।' अहा, कैसे निर्विकार महापुरुष थे! शीत हो या ग्रीष्म – सर्वदा वैसे ही दिगम्बर बैठे रहते थे ।''

तेल की मालिश समाप्त होने के बाद माँ ने कहा, ''चल, अब वह थोड़ा ठाकुर की पुस्तक पढ़ेगी । सरला तो बोर्डिंग (छात्रावास) में चली गयी है बेटी, पहले वही पाठ किया करती थी ।'' पढ़ते-पढ़ते साधना तथा दर्शन आदि की बात उठी ।

माँ – इन गोलाप, योगीन आदि ने कितना सब ध्यान-जप किया है । यही सब चर्चा करना अच्छा है । आपस में सुनकर इनकी (ढाका की बहू, नवासन की बहू आदि) भी उसमें मति होगी ।

दर्शन का प्रसंग उठने पर माँ बहुत-सी बातें दबा गयीं, लगता है कि वे सबके सामने नहीं कहेंगी ।

नलिनी – बुआ, लोग कितना ध्यान-जप करते हैं, सुना है कि दर्शन-स्पर्शन भी होता है, परन्तु मुझे क्यों कुछ भी नहीं होता? तुम्हारे साथ इतने दिन रही, इससे मेरा क्या हुआ?

माँ – उनका होगा क्यों नहीं? खूब होगा । उनमें कितना भक्ति-विश्वास है! विश्वास-भक्ति होना चाहिए, तभी होता है । तुम लोगों में क्या वह है!

---

४. ठाकुर के देहत्याग के बाद माँ पहली बार वृन्दावन से लौटकर कामारपुकुर गयीं । वहाँ एक वर्ष रहने के बाद उन्होंने बेलूड़ आकर गंगा के किनारे स्थित राजू गुमास्ता के किराये के मकान में निवास किया । तदुपरान्त उन्होंने मास्टर महाशय के घर जाकर वहाँ से स्वामी अद्वैतानन्द के साथ गयाधाम-यात्रा की थी ।

नलिनी – अच्छा बुआ, लोग जो तुम्हें अन्तर्यामी कहते हैं, सचमुच ही क्या तुम अन्तर्यामी हो? क्या तुम बता सकती हो कि मेरे मन में क्या है?

माँ इस पर थोड़ा हँस दीं। नलिनी ने और भी दृढ़तापूर्वक उन्हें पकड़ा। तब माँ बोलीं, "वे लोग भक्तिवश कहते हैं।" इसके बाद वे बोलीं, "मैं क्या हूँ बेटी? ठाकुर ही सब हैं। तुम लोग ठाकुर से यही प्रार्थना करो – (हाथ जोड़कर ठाकुर को प्रणाम करती हुईं) मुझमें 'अहंता' न आये।"

माँ का भाव देखकर हमें हँसी आ गयी, यह उनका अपने को छिपाकर रखने का अभिनय था, और हममें से प्रत्येक तो अहंकार की प्रतिमूर्ति थीं। हममें भला इस शिक्षा को समझने की क्षमता ही कहाँ थी?

ढाका की बहू कह रही हैं, "मेरा लड़का कहता है – माँ के पास भला क्या कहूँगा, माँ तो जगदम्बा हैं, अन्तर की सारी बातें जानती हैं।"

मैंने कहा, "बहुत से लोग तो माँ को जगदम्बा कहते हैं, परन्तु किसमें कितना विश्वास है यह ठाकुर ही जानते हैं। हम अविश्वासी लोगों के मुख से यह बात मानो तोते के समान रटी हुई प्रतीत होती है।"

माँ हँसते हुए बोलीं, "तुम ठीक कहती हो, बेटी।"

मैं – माँ जो साक्षात् भगवती हैं, यह बात यदि वे स्वयं ही दया करके न समझा दें, तो फिर उसे समझने की सामर्थ्य हममें भला कहाँ है! तो भी माँ का ईश्वरत्व इसी में है कि उनमें 'अहंकार' का लेशमात्र भी नहीं है। प्रत्येक जीव अहं से परिपूर्ण है। ये जो हजारों लोग माँ के चरणों के पास आकर 'तुम लक्ष्मी हो, तुम जगदम्बा हो' कहते हुए लोट रहे हैं; माँ यदि मनुष्य होतीं, तो इस पर अहंकार से फूल उठतीं। इतना मान पचा पाना क्या मानुषिक शक्ति है!

माँ ने प्रसन्न मुख के साथ एक बार निगाह उठाकर मेरी ओर देख भर लिया। मैंने मन-ही-मन कहा, "दया करो, माँ, मुख से बोलने में लज्जा आती है, मन-ही-मन कह सकूँ।"

जाने का समय हो आया है। माँ उठकर हाथ में प्रसाद देते हुए बोलीं, "प्रसाद और हरि में कोई भेद नहीं है, (मेरे सीने पर हाथ रखकर) मन में इस बात पर दृढ़ विश्वास रखो।" आज विशेष रूप से उन्होंने यह बात क्यों कही? आज तीन महीने हुए, प्राय: रोज ही तो आती जाती हूँ। जाते समय माँ प्रतिदिन ही हाथ में भरकर प्रसाद देती हैं। बहुत से लोगों को देने के कारण कभी कभी मैंने प्रसाद का अभाव होते भी देखा है। इसीलिए माँ अपने तख्त के नीचे एक तश्तरी में रख देतीं और कह दिया करती थीं, "उसके लिए रखकर बाकी सबको देना।" तो भी मुझे लज्जा का बोध होता था। इस लज्जा को दूर करने के लिए ही क्या उन्होंने आज यह बात कही? □ **(क्रमश:)** □

स्वामी विवेकानन्द के साथ भ्रमण (४)

भगिनी निवेदिता

(इंग्लैण्ड में जन्मीं कुमारी मार्गरेट नोबल ने लंदन में स्वामीजी के व्याख्यान सुने और उनके विचारों से प्रभावित होकर वे भारत आयीं। उन्होंने अपनी एक लघु पुस्तिका में बताया है कि किस प्रकार स्वामीजी ने उन्हें प्रशिक्षण देने के बाद, भारतमाता की सेवा में निवेदित किया। प्रस्तुत है इसी भावभीने विवरण का हिन्दी अनुवाद – सं.)

३. अल्मोड़ा की प्रात:कालीन बातें (जारी)

अस्तु। इस प्रकार साधारण रूप से विभिन्न रोचक विषयों पर चर्चा बावजूद स्वामीजी का आन्तरिक संघर्ष बढ़ता गया और हमारी टोली के सबसे वरिष्ठ सदस्यों में से एक के मन में आया कि आचार्यदेव को विश्राम तथा शान्ति की आवश्यकता है। स्वामीजी ने अनेकों बार इस विस्मयपूर्वक जीवन की यातनाओं का उल्लेख किया और उनके निवारण की आवश्यकता के अनेक लक्षण दिखाई पड़े। इस विषय में उन्होंने दो-एक बातें कही थीं, जो अल्प होने पर भी यथेष्ट थीं। कुछ घण्टों बाद वे आकर बोले, "मुझे निर्जनवास की बड़ी इच्छा हो रही है, मैं एकाकी वन में जाकर शान्तिलाभ करूँगा।"

इसके बाद ऊपर की ओर देखते हुए उनकी दृष्टि उदीयमान चन्द्रमा पर जा टिकी और वे कहने लगे, "मुसलमान लोग शुक्लपक्ष के चाँद को बड़ी श्रद्धा की दृष्टि से देखा करते हैं। आओ हम भी इस नवीन चन्द्रकला के साथ नवजीवन आरम्भ करें।" यह कहकर उन्होंने अपनी मानसकन्या को खुले-दिल से आशीर्वाद दिया और कन्या ने भी समझ लिया कि स्वामीजी के साथ उसका पुराना द्वन्द्वभाव से युक्त सम्बन्ध विच्छिन्न हो चुका है। परन्तु वे बिल्कुल भी नहीं जान सकीं कि उसका स्थान एक नवीन तथा गहनतर सम्बन्ध ने ले लिया है; उन्हें केवल इतना ही बोध हुआ कि वह क्षण अत्यन्त अद्भुत तथा मधुमय था।

इसी प्रकार उस संघर्ष का अवसान हुआ और इसके बाद से उस शिष्या के हृदय में स्वामीजी के हर मत एवं विचार के लिए स्थान हो गया; प्रथम दृष्टि से चाहे वे जितने भी असम्भव या अरुचिकर क्यों न लगें, उन्हें स्वीकार करने के बाद फुरसत के समय उन पर विचार करके अन्तिम निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता था।

२५ मई। जिस दिन वे गये, वह बुधवार था। शनिवार को वे लौट आये। पहले भी वे प्रतिदिन दस घण्टे वन की निर्जनता में बिताया करते थे, परन्तु रात को अपने तम्बू में लौट आते थे। उस समय चारों ओर से लोग उन्हें इस प्रकार घेर लेते कि उनका भावप्रवाह भंग हो जाता और इसी कारण उन्हें इस प्रकार पलायन करना पड़ा था। अब उनके मुखमण्डल से ज्योति प्रस्फुटित हो रही थी। वे यह देखकर सन्तुष्ट हुए कि अब भी वे नंगे पाँव भ्रमण करने में सक्षम, शीत-उष्ण तथा स्वल्पाहार में सन्तुष्ट रहनेवाले पुराने संन्यासी ही हैं; पाश्चात्य देशों का निवास उन्हें बिगाड़ नहीं सका है। यह अनुभव तथा और भी जो कुछ उन्हें इन कुछ दिनों के दौरान प्राप्त हुआ था, वह उस समय के लिए पर्याप्त था और

हम लोग श्री सेवियर के गुलाब के पौधों से भरे उद्यान में युकेलिप्टस वृक्षों के नीचे बैठे उनका कृतज्ञता एवं शान्ति से परिपूर्ण मुखमण्डल देख आये।

३० मई। अगले सोमवार को वे अपने मेजबानों (सेवियर दम्पति) के साथ एक सप्ताह के लिए बाहर चले गये और हम लोग अल्मोड़ा में रहकर पढ़ाई, चित्र आँकना तथा वनस्पतियों का अध्ययन करते रहे।

२ जून। इसी सप्ताह में एक दिन सांध्य भोजन के उपरान्त हम लोग बैठकर बातें कर रही थीं। बड़े विचित्र ढंग से हमारी विचारधारा 'इन मेमोरियम'[१] पर केन्द्रित हो गयी और हममें से एक ने उच्च स्वर में आवृत्ति की –

> Yet in these ears, till hearing dies,
> One set slow bell will seem to toll
> The passing of the sweetest soul
> That ever looked with human eyes.
> I here it now, and o'er and o'er,
> Eternal greetings to the dead;
> And `Ave, Ave, Ave,' said,
> `Adieu Adieu,' for evermore.

– "तथापि जब तक मेरे कानों में श्रवणशक्ति रहेगी, तब तक एक हल्की-सी घण्टाध्वनि बजती हुई सूचित करती रहेगी कि मानव-शरीर में निवास करनेवाली वह प्रिय आत्मा अब प्रस्थान कर चुकी है। मैं अब भी उसे निरन्तर सुन पाता हूँ, जो दिवंगत आत्मा के प्रति शुभकामना व्यक्त करते हुए कह रही है, 'तुम्हारा मंगल हो! मंगल हो! अलविदा! सदा के लिए अलविदा'!"

उसी क्षण सुदूर दक्षिण में हमारे एक परम आत्मीय इस परिदृश्यमान जगतरूपी मन्दिर से किसी सूक्ष्मतर ज्योति के राज्य में प्रस्थान कर रहे थे। इस संसार के परे स्थित उस जगत में भगवत्सान्निध्य का स्पष्टतर होना ही सम्भव है और इसीलिए वहाँ आलोक भी उज्ज्वलतर है। परन्तु अभी तक हमें वह दुस्संवाद मिला नहीं था। एक दिन और उस अज्ञात की महीयसी छाया हमें आच्छन्न किये रही। इसके बाद शुक्रवार को प्रात:काल हम लोग बैठकर किसी कार्य में लगी थीं, उसी समय एक 'तार' आया। तार एक दिन विलम्ब से पहुँचा था। उसमें लिखा था, "कल रात गुडविन ने ऊटकमण्ड में देहत्याग कर दिया है।" पता चला कि उस अंचल में टायफायड ज्वर की जो महामारी फैली थी, हमारे मित्र उसी के ग्रास बन गये थे और अन्तिम श्वास तक स्वामीजी के बारे में ही बोलते हुए उन्हीं के सान्निध्य के लिए आकुलता व्यक्त कर रहे थे।

५ जून। रविवार को संध्या के समय स्वामीजी अपने आवास पर लौट आये। हमारे फाटक और छत से होकर ही उनका रास्ता है और वहीं थोड़ी देर बैठकर हमने उनके साथ बातें कीं। उन्हें यह दुस्संवाद ज्ञात न था, परन्तु पहले से ही उनके चेहरे पर विषाद की छाया दिख रही थी और उन्होंने अपना मौन तोड़ते हुए हमें उन महापुरुष (पवहारी बाबा) का स्मरण कराया, श्रीरामकृष्ण के बाद जिनके प्रति उनका सर्वाधिक प्रेम था और जिन्होंने

१. अंग्रेज कवि टेनिसन द्वारा उनके प्रिय मित्र आर्थर हेनरी हेलम के निधन पर रचित सुप्रसिद्ध शोकगीत।

नाग द्वारा डस लिए जाने पर केवल इतना ही कहा था, 'मेरे प्रियतम का दूत आया था।' वे बोलें, "अभी अभी मुझे एक पत्र मिला है कि पवहारी बाबा ने अपने शरीर की पूर्णाहुति देकर अपने यज्ञों का समापन कर लिया है। यज्ञ की ज्वाला में उन्होंने अपनी देह को जला दिया है।" उनके श्रोताओं में से एक ने कहा, "स्वामीजी, क्या यह बड़ा अनुचित कार्य नही हुआ है?" स्वामीजी ने अत्यन्त आवेगपूर्ण कण्ठ से उत्तर दिया, "मैं भला क्या कह सकता हूँ, वे इतने महान थे कि मैं उनके क्रिया-कलापों पर विचार करने का अधिकारी नहीं हूँ। उन्होंने क्या किया यह वे ही जाने।"

इसके बाद और कोई बात नहीं हुई और संन्यासीगण अपने स्थान पर चले गये। तब भी दूसरे समाचार की बात उनके सम्मुख व्यक्त नहीं की गयी थी।

६ जून। अगले दिन प्रात:काल वे बड़े सबेरे आये। मैंने देखा कि वे बड़े ही गम्भीर चिन्तन में डूबे हुए हैं। उन्होंने बताया कि वे भोर में चार बजे ही उठ गये और किसी ने उनसे मिलने जाकर उन्हें गुडविन की मृत्यु का समाचार दे दिया था। इस सदमे को उन्होंने शान्तिपूर्वक सह लिया था। कुछ दिनों बाद उन्होंने उस स्थान में रहने से इन्कार कर दिया, जहाँ उन्हें पहली बार यह दुस्संवाद मिला था और उन्होंने अपनी इस दुर्बलता के बारे में बताया कि वहाँ उनके सर्वाधिक विश्वस्त शिष्य की आकृति निरन्तर उनके मन पर छाई रहती है। इसका अनौचित्य बताते हुए उन्होंने कहा कि किसी की स्मृति से भी इस प्रकार पीड़ित होना मानो वैसा ही है, जैसे क्रमविकास के उच्च स्तरों में पहुँचकर भी मछली या कुत्ते के लक्षण बनाये रखना; इसमें मनुष्यत्व नहीं है। मनुष्य को इस भ्रम पर विजय पाकर यह जान लेना होगा कि दिवंगत आत्माएँ पूर्ववत ही हमारे निकट और हमारे बीच उपस्थित हैं। उनकी अनुपस्थिति और बिछोह कल्पना मात्र है। फिर अगले ही क्षण वे इस जगत को परिचालित करनेवाली किसी व्यक्तिगत सत्ता (अर्थात सगुण ईश्वर) के अस्तित्व की निर्बुद्धितापूर्ण कल्पना के विरुद्ध कठोर शब्दों में कहते, "गुडविन को मार डालने के लिए ऐसे ईश्वर के विरुद्ध युद्ध छेड़ना और उसे समाप्त कर डालना क्या हमारा अधिकार और कर्तव्य नहीं है? गुडविन यदि बचा रहता, तो कितने सारे कार्य कर पाता!" कम-से-कम भारतवर्ष में ऐसे भाव को धर्म का सर्वश्रेष्ठ भाव मान लेने में किसी को आपत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि यही सर्वाधिक अटल सत्यपूर्ण भाव है।

एक वर्ष बाद मैंने स्वामीजी से और भी जो एक बात सुनी थी, उसका भी इस उक्ति के साथ ही उल्लेख कर देना शायद अप्रासंगिक नहीं होगा। हम जिन स्वप्नों की सहायता से दिलासा प्राप्त करते हैं, उस पर इसी प्रकार का तीव्र विस्मय व्यक्त करते हुए वे बोल उठे थे, "देखो, प्रत्येक छोटे-मोटे शासक तथा अधिकारी के लिए अवकाश तथा विश्राम का समय निर्धारित रहता है। केवल सर्वोच्च न्यायाधीश ईश्वर ही चिरकाल तक न्याय के आसन पर बैठे रहेंगे और उन्हें कभी अवकाश नहीं मिलेगा।"

परन्तु इन प्रथम कुछ घण्टों के दौरान स्वामीजी अपने शोक के बारे में शान्त रहे और हमारे साथ बैठकर धीरतापूर्वक विविध विषयों पर वार्तालाप करने लगे। उस दिन प्रात:काल वे भक्ति के सम्बन्ध में बोलने लगे कि किस प्रकार वह तपस्या में परिणत हो जाती है और किस प्रकार भगवत्प्रेम की प्रखर धारा मनुष्य को व्यक्तित्व की सीमा से बहुत दूर बहा ले

जाती है, तथापि वह पुनः उसे एक ऐसे स्थान पर छोड़ जाती है, जहाँ वह व्यक्तित्व के मधुर बन्धन से छुटकारा पाने के लिए छटपटाता रहता है ।

उस दिन सुबह के त्याग-विषयक उपदेश श्रोताओं में से एक को अत्यन्त कठिन प्रतीत हुए; उनके पुनः आने पर उक्त महिला ने कहा, "मेरी धारणा है कि अनासक्त होकर प्रेम करने से किसी प्रकार का दुख उत्पन्न होने की सम्भावना नहीं है और यह अपने आप में आदर्श स्वरूप है ।" सहसा स्वामीजी गम्भीरतापूर्वक उनकी ओर उन्मुख होकर कहने लगे, "यह जो त्यागविहीन भक्ति की बात तुम कह रही हो, यह क्या है? यह अत्यन्त हानिकर है!" इसके बाद वे एक घण्टे या उससे भी अधिक काल तक वहीं खड़े रहकर बताते रहे कि यदि सचमुच ही अनासक्त रहना हो तो किस प्रकार के कठोर आत्मसंयम का अभ्यास आवश्यक है, किस प्रकार स्वार्थपूर्ण उद्देश्यों का आवरण दूर करना होगा और किस प्रकार पुष्प के समान अति पवित्रात्मा की पंखुड़ियों पर भी प्रतिक्षण सांसारिक स्थूल विषयों के पंक से कलुषित होने का खतरा मँडराता रहता है । उन्होंने उन भारतीय संन्यासिनी का उल्लेख किया, जिन्होंने यह पूछे जाने पर कि 'धर्मपथ पर मनुष्य कब अपने आपको सुरक्षित समझ सकता है'– उत्तर में एक तश्तरी राख भेज दी थी; क्योंकि वासनाओं के साथ संघर्ष लम्बा तथा भयंकर होता है और किसी भी क्षण विजेता के हार जाने की आशंका बनी रहती है ।"

उनकी बातें सुनते सुनते ऐसा लगने लगा कि मानो यह त्याग की पताका ही एक महान विजयध्वज है, उन चिरन्तन भगवान को पति रूप में वरण करने के लिए निर्धनता तथा आत्मसंयम ही उपयुक्त आभरण हैं, दान करने के सुदीर्घ मौके का नाम ही जीवन है और जो वस्तु हमारे पास बिना दिये बच जाती है वही खोयी हुई समझकर पश्चाताप करने योग्य है । कई सप्ताह बाद काश्मीर में जब वे पुनः इसी भाव की बातें कह रहे थे, तो हम लोगों में से एक ने साहस करके पूछ लिया कि इस प्रकार वे जिस भाव को जगा रहे हैं, क्या यह वही नहीं है जिसे यूरोप में दुःखोपासना कहकर अत्यन्त घृणित माना जाता है?

स्वामीजी ने तत्काल उत्तर दिया, "तो क्या सुखोपासना ही बड़े उच्च स्तर की वस्तु है?" इसके बाद थोड़ा ठहरकर वे फिर कहने लगे, "परन्तु वास्तविकता तो यह है कि न तो हम दुःख की उपासना करते हैं और न सुख की ही । इन दोनों के भीतर से हम उस वस्तु की उपलब्धि का प्रयास करते हैं, जो इन दोनों के परे है ।"

९ जून । इस बृहस्पतिवार को सुबह श्रीकृष्ण के बारे में बातें हुईं । स्वामीजी के मन तथा जिस हिन्दू संस्कृति में उनका जन्म हुआ था, उसकी यह विशेषता थी कि वे एक दिन किसी भाव को लेकर उसी की व्याख्या तथा गुणगान करने में लग जाते और दूसरे ही दिन वे निर्मम भाव से उसका विश्लेषण करते हुए उसे बिल्कुल ही काट डालते थे । उनके देशवासियों की यह धारणा उनमें पूर्ण रूप से विद्यमान थी कि यदि कोई भाव आध्यात्मिक दृष्टि से सत्य तथा युक्तिसंगत हो, तो उसकी वास्तविक सत्ता के होने या न होने से कोई अन्तर नहीं पड़ता । और विचार की इस प्रणाली का आभास सर्वप्रथम उन्हें अपने गुरुदेव से ही मिला था । किसी धार्मिक तथ्य की ऐतिहासिकता के विषय में उनके थोड़ा सन्देह व्यक्त करने पर श्रीरामकृष्ण ने कहा था, "क्यों! क्या तुम ऐसा नहीं सोचते कि जो लोग ऐसे भावों की कल्पना कर सकते थे, वे स्वयं ही इसके मूर्तिमान रूप होंगे?"

ईसा के समान ही श्रीकृष्ण की ऐतिहासिकता के सम्बन्ध में भी कभी कभी वे 'सामान्य रूप से' अपना सन्देह व्यक्त करते थे। उनके मतानुसार केवल बुद्ध और मुहम्मद ही इस मायने में सौभाग्यशाली थे कि उन्हें मित्रों के साथ-ही-साथ शत्रु भी मिले थे, इस कारण उनकी ऐतिहासिकता निःसंदिग्ध है। और जहाँ तक कृष्ण का प्रश्न है, उनका चरित्र तो सर्वाधिक अस्पष्ट है। एक कवि, एक ग्वाले, एक योद्धा, एक महान शासक और एक ऋषि – सम्भवतः इन सबको मिलाकर हाथ में गीता लिए हुए इस सुन्दर व्यक्तित्व की रचना हुई है।

परन्तु आज श्रीकृष्ण सभी अवतारों में सर्वाधिक परिपूर्ण के रूप में प्रस्तुत किये गये और एक सारथी के रूप में घोड़ों को नियंत्रित करते हुए उनका अद्भुत चित्रण हुआ, जो रणक्षेत्र में चारों ओर देखते हुए एक ही दृष्टि में सेनाओं का निरीक्षण करने के उपरान्त अपने राजकीय शिष्य को गीता के गहन सत्य समझाने लगे।

वस्तुतः इस ग्रीष्म ऋतु के दौरान उत्तरी भारत के एक अंचल से दूसरे अंचल की ओर जाते हुए हमें यह देखने के अनेक अवसर मिले कि इस कृष्णकथा ने लोगों के हृदय पर कैसा अधिकार जमा लिया है। रास्ते के किनारे गाँवों में नर्तकगण जो गीत गाते, वे सभी राधाकृष्ण विषयक ही थे। इसके अतिरिक्त एक अन्य बात स्वामीजी बारम्बार कहते थे और वह यह कि भारत के वैष्णवगण कल्पनामूलक प्रेमगीति की पराकाष्ठा तक पहुँच गये हैं (वैसे इस विषय में मेरा अपना कोई मतामत नहीं था)।

तो क्या गोपिकाओं की वह अद्भुत प्राचीन कथा सचमुच ही किन्हीं गोचारकों में प्रचलित पूजा का अंशविशेष है, जो परवर्ती किसी परम्परा के साथ जुड़कर अपनी नाटकीय कोमलता तथा विनोद के साथ इस उन्नीसवीं शताब्दी के चकाचौंध के बीच भी जीवित है?

परन्तु पिछले कई दिनों से स्वामीजी कहीं जाकर एकान्तवास करने को आकुल थे। जिस स्थान पर उन्हें गुडविन की मृत्यु का समाचार मिला था, वह उनके लिए असह्य हो उठा था और पत्रों के आदान-प्रदान के फलस्वरूप उनका वह घाव क्रमशः गहरा होता जा रहा था। एक दिन उन्होंने कहा कि बाहर से श्रीरामकृष्ण केवल भक्तिमय प्रतीत होने पर भी वस्तुतः भीतर से वे पूर्ण ज्ञानमय थे; परन्तु वे (स्वामीजी) बाह्यतः केवल ज्ञानमय प्रतीत होने पर भी भीतर भक्ति से परिपूर्ण थे और इसी कारण बीच बीच में उनमें नारीसुलभ दुर्बलता एवं कोमलता के भाव भी दीख पड़ते थे।

एक दिन वे एक जन की लिखी हुई कुछ त्रुटिपूर्ण पंक्तियाँ ले गये और उसे एक छोटी कविता का रूप देकर ले आये, जो गुडविन की विधवा माता को उनके पुत्र की यादगार के रूप में भेज दिया गया। कविता इस प्रकार थी –

उसे शान्ति में विश्राम मिले

आगे बढ़ो ओ' आत्मन ! अपने नक्षत्रजड़ित पथ पर,
हे परम आनन्दपूर्ण ! ! बढ़ो, जहाँ मुक्त विचार हैं,
जहाँ काल और देश से दृष्टि धूमिल नहीं होती,
और जहाँ चिरन्तन शान्ति और वरदान हैं तुम्हारे लिए !

जहाँ तुम्हारी सेवा बलिदान को पूर्णत्व देगी,
जहाँ श्रेयस् प्यार से भरे हृदयों में तुम्हारा निवास होगा,
मधुर स्मृतियाँ देश और काल की दूरियाँ खत्म कर देती हैं ।
बलिवेदी के गुलाबों के समान
तुम्हारे पश्चात विश्व को आपूरित करेगी ।

अब तुम बन्धनमुक्त हो, तुम्हारी खोज परमानन्द तक पहुँच गयी,
अब तुम उसमें लीन हो, जो मरण और जीवन बन कर आता है,
हे परोपकार-रत, हे निःस्वार्थ प्राण, आगे बढ़ो !
इस संघर्षरत विश्व की अब भी तुम सप्रेम सहायता करो ।

संशोधन के बाद चूँकि मूल पंक्तियों का कुछ भी शेष नहीं रह गया था (जो त्रिपदी छन्द में थीं) और उन्हें आशंका थी कि कहीं उसकी लेखिका क्षुब्ध न हो जायँ, वे आन्तरिकता के साथ विस्तारपूर्वक बताने लगे कि शब्दों को केवल तुक व छन्द में ग्रथित करने के स्थान पर कवित्वपूर्ण अनुभव करना कहीं अधिक महत्व की बात है । कोई भी सहानुभूति या मत उन्हें भावुकतापूर्ण या अयथार्थ प्रतीत होने पर वे उसके प्रति बड़ी कठोरता दिखाते थे, परन्तु किसी के प्रयास करके असफल हो जाने पर आचार्यदेव सर्वदा बड़े आग्रह तथा कोमलता के साथ उसके पक्ष का समर्थन करते थे ।

और पुत्रहीन माता ने भी कितने आनन्दपूर्वक उनकी कविता का प्राप्तिसंवाद भेजा था और शोक-सन्तप्त होकर भी सुदूर प्रवास में परलोकगत अपने पुत्र के ऊपर स्वामीजी का जो प्रभाव पड़ा था, उसके लिए उन्हें धन्यवाद दिया था ।

१० जून । अपने अल्मोड़ा-प्रवास के अन्तिम दिन अपराह्न में हमने श्रीरामकृष्ण के प्राणघातक रोग की कथा सुनी । उनकी बीमारी का निदान करने हेतु डॉ. महेन्द्रलाल सरकार को बुलाया गया था । उन्होंने रोग को कैंसर बताते हुए शिष्यों को भलीभाँति समझा दिया कि यह रोग संक्रामक है । आधे घण्टे के बाद 'नरेन' (उन दिनों उनका यही नाम था) ने आकर देखा कि वे लोग एकत्र होकर रोग के खतरों के बारे में ही चर्चा कर रहे हैं । उन्होंने सारी बातें सुनी और नीचे फर्श की ओर देखा तो श्रीरामकृष्ण के चरणों के निकट बचे हुए खीर की कटोरी पड़ी थी । गले की क्षत नलिका में संकुचन होने के कारण श्रीरामकृष्ण को वह खीर खिलाने का कई बार व्यर्थ प्रयास किया गया था और उनके मुख से बारम्बार उसके निकल आने के कारण निश्चित रूप से उनके जीवाणुओं से पूर्ण मवाद तथा श्लेष्मा भी उसमें मिली हुई थी । नरेन ने सबके सामने उस कटोरी को उठाकर उसमें से खीर पी लिया। उसके बाद से शिष्यों के बीच कैंसर की संक्रामकता का प्रसंग फिर कभी नहीं उठा ।

□(क्रमशः)□
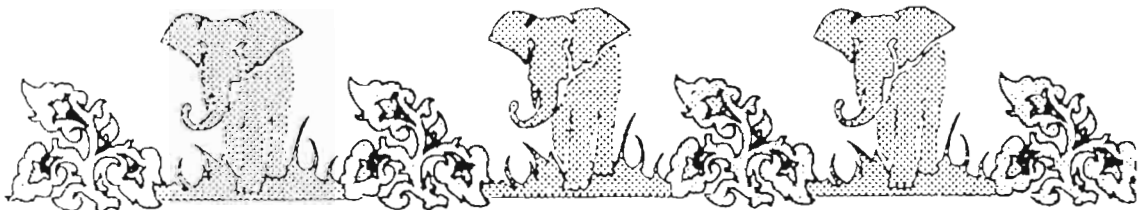
हमारी शिक्षा (४)

स्वामी निर्वेदानन्द

(पिछले हजार वर्षों की दासता के दौरान भारत की परम्परागत शिक्षा-प्रणाली ध्वस्त हो गयी थी और उसके स्थान पर लॉर्ड मैकाले द्वारा परिकल्पित तथा ब्रिटिश साम्राज्य द्वारा प्रारम्भ की हुई प्रणाली ही कमो-बेश आज तक चली आ रही है। स्वामी विवेकानन्द के शिक्षा-विषयक विचारों के आधार पर रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी स्वामी निर्वेदानन्द ने हमारे शिक्षा-सम्बन्धी आदर्शों पर एक लेखमाला लिखी थी, जो संघ के अंग्रेजी मासिक 'प्रबुद्ध भारत' के १९२८ ई. के छः अंकों में धारावाहिक रूप से प्रकाशित हुई। बाद में उसके परिवर्धन तथा सम्पादन के उपरान्त उसे एक पुस्तक का रूप दिया गया। 'विवेक-ज्योति' में क्रमशः इसका एक अविकल अनुवाद प्रस्तुत किया जा रहा है। – सं.)

६. हमारा वर्तमान कर्तव्य

"जब तुम्हारे पास ऐसे आदमी होंगे, जो अपने देश के लिए अपना सर्वस्व बलिदान कर देने को प्रस्तुत होंगे, मेरुदण्ड तक से सच्चे – जब ऐसे लोग उठेंगे, तो भारत हर दृष्टि से महान बन जायगा। भारत तभी उठेगा, जब सैकड़ों उदार हृदयवाले नर-नारी विलासितापूर्ण जीवन की सारी आकांक्षा को छोड़कर, दिन-पर-दिन दुर्दशा और अज्ञान के दलदल में उत्तरोत्तर धँसते चले जा रहे अपने करोड़ों देशवासियों की भलाई के लिए व्याकुल होकर जी-जान से परिश्रम करेंगे।" — *स्वामी विवेकानन्द*

जहाँ तक इस देश में सही ढंग की शिक्षा के प्रसार का प्रश्न है, हमारा कार्य बड़ा ही व्यापक है। पहले तो (इस क्षेत्र की) स्पष्ट भूलों को सुधारना होगा, गलत प्रणालियों को ठीक करना होगा तथा सर्वोपरि ऐसी संशोधित शिक्षा को देश के हर कोने में पहुँचाना होगा।

नि:सन्देह यह एक ऐसा कार्य है जिसे केवल देश की सरकार ही सँभाल सकती है। ब्रिटिश शासन के दौरान जनवरी १९४४ ई० में प्रकाशित, सामान्यत: सार्जेण्ट रिपोर्ट के नाम से सुपरिचित शिक्षा सम्बन्धी केन्द्रीय सलाहकार समिति के प्रतिवेदन में सभी बालकों तथा बालिकाओं की मुफ्त तथा अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा से आरम्भ करके, शिक्षा के हर प्रकार तथा स्तर पर एक सर्वांगीण रूपरेखा प्रस्तुत की गयी है। उपरोक्त सलाहकार समिति के मतानुसार इस कार्यक्रम को पूरी तौर से प्रभावी बनाने के लिए चालीस या पचास वर्षों के दौरान तीन सौ बारह करोड़ रुपये की राशि व्यय होनी थी। ऐसा किये जाने पर आशा थी कि इस देश की शिक्षा की अवस्था पश्चिम के उन्नत देशों के समकक्ष हो जाती।

तथापि यह सब कुछ एक परिकल्पना मात्र है। वर्तमान राष्ट्रीय सरकार द्वारा अत्यधिक प्रयासों के बावजूद इसे पूरी तौर से कार्य रूप में परिणत करने के लिए कम-से-कम दो पीढ़ियों का समय लगेगा। ऐसी परिस्थिति में देश में प्रचलित शिक्षा की वर्तमान दुरवस्था को देखते हुए स्वाधीन संस्थाओं और यहाँ तक कि दूरदर्शी तथा कर्मठ व्यक्तियों को हाथ-पर-हाथ धरे बैठे नहीं रहना चाहिए।

शिक्षा के परिमाण तथा गुणवत्ता में सुधार लाने की दिशा में इस समय किया जानेवाला किसी के भी द्वारा कोई भी प्रयास अतीव स्वागतयोग्य है, भले ही वह कितना भी छोटा क्यों

न हो । महात्मा गाँधी के नेतृत्व तथा भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस के तत्त्वावधान में चलनेवाली बुनियादी शिक्षा की 'वर्धा योजना' निश्चितं रूप से सही दिशा में एक कदम था । शिक्षा के सुधार तथा प्रसार के लिए शान्तिनिकेतन तथा विश्वभारती के माध्यम से रवीन्द्र नाथ ठाकुर का प्रयास, बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के विकास के रूप में मदन मोहन मालवीय का आदर्शवादी उद्यम और इस दिशा में आर्यसमाज, रामकृष्ण मिशन, भारतीय विद्या भवन तथा कुछ अन्य संस्थाओं की उपलब्धियाँ – स्पष्ट रूप से इस बात की ओर संकेत करती हैं कि वर्तमान शिक्षा-प्रणाली के दोष हमारे अधिकांश विचारकों की दृष्टि में आ गये हैं और अनेक लोगों द्वारा उसमें सुधार लाने के लिए गम्भीर प्रयास किये जा रहे हैं ।

तथापि यह कहा जा सकता है कि इस क्षेत्र में और भी सैकड़ों संस्थाओं के आगे बढ़कर कार्य में लग जाने की आवश्यकता है । कार्य बहुत ही विराट है । और फिर विभिन्न संस्थाओं के बीच कार्य-पद्धति तथा आदर्शों के विषय में एक स्वस्थ विचार-विनिमय के द्वारा उनके प्रयासों को समायोजित करने की भी आवश्यकता है । उन सबके समक्ष एक ही उद्देश्य है – वर्तमान शिक्षा-प्रणाली को तत्काल सुधारना और आम जनता के बीच उचित प्रकार की शिक्षा फैलाकर उनकी उन्नति करना । और ये दोनों परस्पर सम्बन्धित हैं । जब तक वर्तमान प्रणाली में किंचित सुधार नहीं होता, तब तक जनशिक्षा एक अपूर्ण स्वप्न मात्र ही रह जायेगा । राष्ट्रीय पुनर्निर्माण की किसी भी ठोस योजना में जनसाधारण की उन्नति ही एक प्रधान आवश्यकता होने के कारण यही हमारे सम्मुख मुख्य तथा तात्कालिक लक्ष्य है । और इसका रूपायन तभी सम्भव है, जब उच्च वर्गों को आम जनता के प्रति उनके कर्तव्यों तथा उत्तरदायित्व के प्रति सचेत करके, उनकी सेवा में लग जाने की प्रेरणा दी जा सके ।

इस कार्य के लिए हजारों कर्मियों की जरूरत होगी; अत: कर्मियों का निर्माण तथा उन्हें इस कार्य के लिए उचित रूप से लैस करना ही हमारा सर्वप्रथम कार्य होगा । इसीलिए स्वामी विवेकानन्द ने मद्रास के अपने एक व्याख्यान में ऐसे प्रशिक्षण संस्थानों की स्थापना पर बल दिया था, जो जनसाधारण तक सही प्रकार की शिक्षा पहुँचानेवाले शिक्षकों का निर्माण कर सकें ।

इस कार्य के विशाल आकार को देखते हुए भगिनी निवेदिता ने सुझाया है कि हम एक शिक्षा-सेना का गठन करें । जिस प्रकार पश्चिम के कुछ देशों में हर युवक को अपनी शिक्षा पूरी करने के बाद कम-से-कम तीन वर्ष सैन्य सेवा में देने पड़ते हैं, उसी प्रकार इस देश में युवकों की शिक्षा हो जाने के बाद कम-से-कम तीन साल तक जनशिक्षा के कार्य में लगा देना चाहिए । यह सुझाव स्पष्ट रूप से इस कार्य की विशालता की ओर इंगित करता है और दिखाता है कि किस प्रकार जनशिक्षा के लिए बिखरे हुए प्रयासों में अपनी शक्ति को वृथा खर्च करने के स्थान पर, हमें इस देश के जागरूक युवकों को जनसेवा के लिए प्रेरित तथा सज्जित करना चाहिए और इस प्रकार जनता की उन्नति के लिए संगठित तथा सुदृढ़ प्रयास करने को अग्रसर होना चाहिए ।

निश्चित रूप से इसे करना होगा और इसी पर हमें मुख्य रूप से ध्यान देना होगा । भगिनी निवेदिता द्वारा कल्पित शिक्षा-सेना जब तक अस्तित्व में नहीं आती, अथवा जब तक शिक्षा की केन्द्रीय सलाहकार समिति द्वारा अपने रिपोर्ट में प्रस्तावित अनिवार्य बुनियादी

शिक्षा की योजना रूपायित नहीं होती, तब तक हमें अपने युवकों की कल्पना-शक्ति को उत्प्रेरित करते हुए, उन्हें निर्धन तथा अज्ञानी ग्रामवासियों के प्रति उनके कर्तव्य के बारे में सचेत और जनशिक्षा के इस पवित्र कार्य में उत्साहित करते रहना होगा।

वैसे यह कार्य भी कोई सहज नहीं है। हमारे जागरूक युवक भी आसानी से जनता के लिए सहानुभूति तथा कार्य के लिए प्रेरित नहीं किये जा सकते। उनके जीवन के काफी लम्बे समय तक स्कूलों तथा कॉलेजों रूपी शिक्षा के तापगृहों में उन्हें जो शिक्षा प्राप्त होती है, उन्हें समाज से पूर्णत: विच्छिन्न कर देती है। सर ब्रजेन्द्रनाथ शील ने बम्बई विश्वविद्यालय में प्रदत्त अपने एक व्याख्यान में वर्तमान शिक्षा-प्रणाली के इस दोष की ओर ध्यान आकर्षित करते हुए सुझाव दिया था कि हमारे देश के विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम में पड़ोस में स्थित झुग्गी-झोपड़ियों की दुरवस्था में सुधार का कोई व्यावहारिक कार्यक्रम भी जोड़ा जाना चाहिए।

सार्जेण्ट रिपोर्ट भी सामाजिक सेवा को युवकों की शिक्षा के एक विषय के रूप में सिफारिश करती है। नि:सन्देह यह एक विवेकपूर्ण सुझाव है, परन्तु देश की उन्नति के लिए व्यक्ति का निर्माण करने हेतु इस निष्ठुर प्रणाली को सुधारना आवश्यक है और यह उसके लिए यथेष्ट नहीं है।

जैसा कि पहले बताया जा चुका है, वर्तमान शिक्षा-प्रणाली की स्पष्ट भूलें हमें यह भलीभाँति दिखा देती हैं कि किस प्रकार हमारे युवक न केवल अपने परिवेश को सुधारने में, बल्कि उंत्पादकता की दृष्टि से भी किसी भी प्रकार के जीवन-कार्य के अयोग्य होते जा रहे हैं। उनका जीवन-स्तर ऊँचा उठा दिया जाता है, उनकी महत्वाकांक्षा को चढ़ा दिया जाता है; परन्तु उनमें से अधिकांश के लिए कमाने के मौके सीमित रह जाते हैं। जैसा कि स्वाभाविक है, उनके अपने ही जीवन का संघर्ष इतना कठोर हो जाता है कि वे सम्भवत: दूसरे लोगों की ओर ध्यान ही नहीं दे सकते। इसके अतिरिक्त व्यवस्थित रूप से हृदय का विकास न होने से अधिकांश लोगों के लिए जनसेवा के भाव की कल्पना तक करना असम्भव हो जाता है।

सबसे खतरनाक बात तो यह है कि वे मिथ्या दम्भ के प्रभाव में आ जाते हैं, जो ग्राम्य जीवन तथा गरीबों के साथ सम्पर्क उनके लिए घृण्य बना देता है।

जैसा कि राष्ट्रीय सरकार महसूस करती-सी लगती है कि वर्तमान प्रणाली में आमूल-चूल सुधार की जरूरत है; जनशिक्षा के लिए भगिनी निवेदिता द्वारा सुझायी गयी एक सेना खड़ी करने का स्वप्न देखने के पूर्व कम-से-कम पुर्वोल्लेखित महत्वपूर्ण कमियों की परिपूर्ति करनी होगी; शारीरिक उन्नति, व्यावहारिक प्रवृत्ति, आर्थिक कुशलता, सांस्कृतिक समरसता तथा उचित ढंग से इच्छा तथा भावनाओं के प्रशिक्षण की ओर विशेष ध्यान देना होगा।

अतएव हमें चाहिए कि हम सभी संस्थाओं के द्वारा केवल किताबी शिक्षा देने के स्थान पर उसके साथ ही चरित्र-निर्माण तथा व्यावसायिक प्रशिक्षण का योग करने में बिल्कुल विलम्ब न करें। इस ओर हमें तत्काल ध्यान देने की जरूरत है। इसके अभाव में यह आशा नहीं की जा सकती कि उच्च वर्गों के युवक जनता के लिए सहानुभूति रखने की मन:स्थिति में होंगे या फिर उनके लिए समय तथा शक्ति बचा सकेंगे।

७. चरित्र-निर्माण

"हमें ऐसे विचारों की आवश्यकता है, जो जीवन-निर्माण, मनुष्य-निर्माण तथा चरित्र-निर्माण में सहायता कर सकें। यदि तुमने केवल पाँच ही विचारों को आत्मसात करके उन्हें अपने जीवन तथा चरित्र का अंग बना लिया है, तो तुम एक पूरे ग्रन्थालय को कण्ठस्थ कर लेनेवाले से भी अधिक शिक्षित हो।" — स्वामी विवेकानन्द

शिक्षा यदि चरित्र का निर्माण नहीं करती, तो वह निरर्थक है। चरित्र से तात्पर्य है इच्छा का प्रशिक्षण अर्थात इच्छा को सशक्त बनाकर उसे उचित दिशा प्रदान करना। इच्छा को प्रबलता तथा दिशा से युक्त मानसिक स्तर की एक शक्ति कहा जा सकता है और चरित्र-निर्माण का अर्थ है – इस मानसिक शक्ति की व्यापकता में वृद्धि करना तथा इसकी दिशा को समायोजित करना। एक चरित्रवान व्यक्ति स्वाभिमान, ईमानदारी के साथ ही प्रभावी ढंग से इच्छा का उपयोग करता है – भीतरी या बाहरी प्रतिरोध के बावजूद उसके अन्दर अपनी इच्छा को क्रियाशील बनाने की दृढ़ता होती है।

यह एक बड़ी रोचक बात है कि हिन्दू शिक्षा-प्रणाली में चरित्र-निर्माण को एक प्रमुख स्थान दिया गया था। हमारे प्राचीन शिक्षाविदों द्वारा इसी को शिक्षा का प्रथम उद्देश्य माना गया था; क्योंकि उन्होंने इस सत्य का आविष्कार किया कि चरित्र तथा इच्छा के सर्वांगीण प्रशिक्षण के बिना प्राप्त हुई शिक्षा का जीवन में उपयोग नहीं किया जा सकता। इसके अतिरिक्त उन्होंने यह भी देखा कि किसी भी प्रकार के ज्ञान के लिए योग्यता लाना हो तो भी कुछ हद तक इच्छा का एक प्राथमिक प्रशिक्षण आवश्यक है। ज्ञान के एक महत्वपूर्ण यंत्र तथा समस्त क्रियाओं के मूल आधार के रूप में 'मन' ने ही हमारे शिक्षाविदों का ध्यान सर्वाधिक आकृष्ट किया था और वे हमारे लिए मानसिक प्रशिक्षण के बारे में एक परम्परा छोड़ गये हैं, जिसकी अनदेखी करना हमारे लिए सम्भवं नहीं है।

एकाग्रता तथा आत्मसंयम के अभ्यास से और उच्च एवं उदात्त भावनाओं के विकास द्वारा इच्छा को संयमित करके उसे सबल बनाया जा सकता है। चरित्र-निर्माण के लिए इसी को हमारे पूर्वजों ने आवश्यक पाया और जहाँ तक सिद्धान्त का प्रश्न है, सम्भवत: कोई भी आधुनिक शिक्षाशास्त्री इसमें रत्ती भर भी कुछ जोड़ नहीं सकता।

इस प्रशिक्षण को प्रदान करने की प्रणाली के विषय में भी उनकी खोज कम अद्भुत नहीं थी। ब्रह्मचर्य आश्रम की अवधारणा ही यह प्रकट करती है कि हमारे प्राचीन शिक्षाशास्त्री एक प्रभावी शिक्षा-पद्धति के रूप में 'स्वक्रिया' के मूल्य तथा महत्व और साथ ही इसे जगाने में 'परिवेश' की भूमिका के बारे में कितने सचेत थे!

हमारे देश की शिक्षा-संस्थाओं का एकमात्र उद्देश्य छात्रों के मस्तिष्क में जानकारियाँ ठूँस देना मात्र ही हो गया-सा प्रतीत होता है; परन्तु इसके स्थान पर हमें अपनी प्राचीन शिक्षा-प्रणाली के आलोक में उनके चरित्र-निर्माण को अधिक महत्व देना चाहिए।

इच्छा-शक्ति के विकास हेतु एकाग्रता तथा आत्मसंयम के अभ्यास की व्यवस्था करनी होगी और यह भी स्मरण रखना होगा कि शिक्षक के द्वारा केवल मौखिक उपदेश ही नहीं, बल्कि उदाहरण भी प्रस्तुत किया जाय। बुद्धि को तीक्ष्ण बनाने तथा विभिन्न अन्य क्षमताओं

के विकास में भी यह अभ्यास अत्यन्त सहायक सिद्ध होगा । इसे किसी भी स्वस्थ शिक्षा-प्रणाली के एक अपरिहार्य अंग के रूप में देखना होगा ।

मन की दुर्बलता तथा अस्थिरता प्राय: मन की चंचलता का ही पर्यायवाची है । जब मन एक साथ बहुत-सी चीजों की ओर दौड़ता है, तो इच्छा-शक्ति में निश्चित रूप से बिखराव आयेगा । जो मन अनेक विचार-वृत्तियों के द्वारा निरन्तर मथित हो रहा है, उसे अटल निष्ठा के साथ किसी विषय पर स्थिर नही किया जा सकता । ऐसे मन को किसी एक सुनिश्चित दिशा में दृढ़तापूर्वक प्रवाहित करने हेतु सर्वप्रथम उसे शान्त करने के बाद मानसिक शक्तियों का संरक्षण करना होगा । इसके लिए एकाग्रता का सुव्यवस्थित अभ्यास आवश्यक है ।

निम्नतर सहज प्रवृत्तियों के विरुद्ध आत्मसंयम का अभ्यास इच्छा का एक स्वस्थ व्यायाम है और नि:सन्देह यह इच्छा-शक्ति के विकास में काफी योगदान करता है । किसी भी प्रकार का अनुशासन आत्मसंयम का ही एक पाठ है और शारीरिक तथा मानसिक प्रभाव के कारण ब्रह्मचर्य को हर प्रकार के अनुशासन का आधार मानना होगा । हमारी बालिकाओं के द्वारा पालित होनेवाले विभिन्न व्रतों का भी शैक्षणिक मूल्य है, क्योंकि ये आत्मसंयम के द्वारा इच्छाशक्ति का विकास करने में सहायक हैं । और इनका परिष्करण करके हमारी बालिकाओं की शिक्षा के किसी भी योजना में इन्हें स्थान दिया जाना चाहिए । बालकों तथा युवकों से भी समय-समय पर उपवास तथा मौन का अभ्यास कराया जाना चाहिए । इसके अतिरिक्त, व्यावहारिक शिक्षा के प्रसंग में चर्चित एक सक्रिय, सुश्रृंखलित तथा सुव्यवस्थित जीवन का उच्च स्तर बनाए रखने के लिए जड़ता के खिलाफ संघर्ष भी इच्छाशक्ति के विकास में काफी योगदान करेगा ।

अब, इच्छा को सशक्त बनाने के अतिरिक्त हमें इसको एक उचित दिशा देनी होगी और इसके लिए हृदय को नियंत्रण में लाकर उसे अच्छी भावनाओं से अनुप्राणित करना होगा । वस्तुत: प्रेम ही उस नहर की खुदाई करती है, जिससे होकर इच्छा प्रवाहित होती है । सुख, धन तथा यश के प्रति लगाव ही सामान्य सांसारिक व्यक्ति के इच्छा-पथ का निर्धारण करता है; जबकि ईश्वर, मानवता, देश तथा समुदाय के प्रति प्रेम उन्नत आत्माओं की इच्छा को परिचालित करता है । एक व्यक्ति के छोटे अहं के प्रति प्रेम के स्थान पर जिस परिमाण में उच्च कोटि के प्रेम का उदय होता है, उसी परिमाण में उसे उन्नत कहा जाता है । अत: चरित्र-निर्माण अपेक्षा करता है कि छात्र को दूसरों के प्रति सहानुभूति में प्रशिक्षित किया जाय और उनके प्रेम को मृदुतापूर्वक उनके छोटे अहं से उठाकर परिवार, पड़ोस, समुदाय, देश, मानवता के उच्च से उच्चतर स्तर तक ले जाया जाय, जो मानो अँधेरे में ढलान से होकर ले जानेवाली वेदी की सीढ़ियाँ हैं । यह निश्चित रूप से उनके हृदय को शुद्ध बनायेगा और अपने कार्य में उन्हें सच्चे रूप से भला तथा वीर बनाने में सहायता करेगा। भगिनी निवेदिता निम्नलिखित शब्दों में इस प्रेम के शैक्षणिक महत्व का किंचित आभास देती हैं – "यहाँ तक कि एक अशिक्षित माता भी अपने बालक को प्रेम करने तथा तदनुसार कार्य करने की शिक्षा देकर एक उत्कृष्ट शिक्षक हो सकती है । यही कारण है कि आज के हमारे अनेक महान व्यक्ति अपने काफी कुछ गुणों के लिए अपनी माता को श्रेय देते हैं ।"

प्रेम श्रद्धा से उत्पन्न होकर सेवा से विकसित होता है । बच्चों को यथाशीघ्र अपने माता-

पिता तथा बड़ों का सम्मान करना और प्रतिदिन नियमपूर्वक अपने परिवार व विद्यालय के सदस्यों तथा पड़ोसियों की सेवा के छोटे-छोटे कार्य करना सिखाना चाहिए। विद्यालय के शिक्षक को इन कार्यों पर ध्यान देना चाहिए तथा अपने छात्रों को 'सेवा' के लिए पुरस्कार देकर उत्साहित करना चाहिए।

छात्रों को अपने परिवेश के प्रति भी सचेत बनाने तथा उन्हें अनुभव करने में सहायता करनी होगी कि उनकी शिक्षा केवल उन्हीं के भले के लिए नहीं, बल्कि जन-देश-धर्म के कल्याण हेतु भी है। उन्हें यह अनुभव कराना होगा कि अपने परिवेश को लाभ पहुँचाना ही उनकी उन्नति का उद्देश्य है। एक स्वस्थ शिक्षा उन्हें यह जानकारी देगी कि "कोई भी व्यक्ति अपने आप में ही नहीं रहता" और यह उनके भीतर "सेवा की इच्छा, बेहतर परिस्थितियों के लिए व्याकुलता, अपने साथ के लोगों की प्रगति तथा सबकी उन्नति" का भाव जाग्रत करे। कोई भी शिक्षा तब तक राष्ट्रीय नहीं कही जा सकती, जब तक कि वह देशप्रेम की प्रेरणा नहीं देती। भगिनी निवेदिता दृढ़तापूर्वक लिखती हैं, "देश तथा देशवासियों, जनता तथा जमीन के प्रति प्रेम ही वह साँचा हो, जिसमें हमारा गर्म-गर्म जीवन बहता रहे।"

इसके लिए सर्वप्रथम छात्रों में उनके देश तथा जनता के बारे में श्रद्धा उत्पन्न करना आवश्यक है। अपने पूर्वजों की महिमामय उपलब्धियों से परिचित करानेवाला इतिहास का एक उचित शिक्षण निश्चित रूप से उनमें श्रद्धा तथा प्रशंसा का भाव उत्पन्न करेगा। उन्हें धर्म तथा दर्शन के क्षेत्र में अपनी मातृभूमि के बहुमूल्य योगदान से और साथ ही उसके सांस्कृतिक आदर्शों को भारतीय सीमा के बाहर प्रचार करने की आवश्यकता से परिचित कराना होगा। उन्हें यह भी जानना चाहिए कि कैसे ये अवदान आधुनिक विचारकों द्वारा महत्व दिये जाते हैं और कैसे वेदान्त-दर्शन तथा बौद्धधर्म पश्चिम के विद्या-परिषदों में अध्ययन तथा शोध के महत्वपूर्ण विषय बन चुके हैं। फिर हमारे छात्रों को संग्रहालयों, कला-दीर्घाओं, चित्रों तथा स्लाइडों के माध्यम से भारतीय चित्रकला, मूर्तिकला तथा वास्तुकला के सौन्दर्य का बोध कराना होगा और इस विषय में उन्हें आधुनिक विशेषज्ञों के प्रशंसात्मक टिप्पणियों की भी जानकारी देनी होगी। क्योंकि ऐसा कौन होगा जिसका हृदय श्री हैवेल तथा पर्सी ब्राउन जैसे सुप्रसिद्ध कला-समीक्षकों द्वारा इनके प्रति श्रद्धापूर्ण उद्गारों को पढ़ या सुनकर अपने पूर्वजों की कलात्मक प्रतिभा के प्रति प्रशंसा से परिपूर्ण न हो उठे!

फिर छात्रों को अपने प्राचीन साहित्य, विशेषकर दो भव्य महाकाव्यों (रामायण तथा महाभारत) के वैभव का अनुभव कराना होगा और इस सन्दर्भ में उन्हें यह भी बताना होगा कि किस प्रकार इन पुरानी कृतियों के साहित्यिक गुण आधुनिक समीक्षकों द्वारा भी प्रशंसित हुए हैं। इसके अतिरिक्त सर ब्रजेन्द्रनाथ शील तथा सर प्रफुल्लचन्द्र राय द्वारा वर्णित प्रत्यक्ष विज्ञानों के क्षेत्र में हमारे पूर्वजों के अवदान की भी छात्रों को जानकारी देनी होगी। उन्हें राजनीतिक, आर्थिक तथा सामाजिक विज्ञानों के क्षेत्र में भी, महाभारत के शान्तिपर्व तथा कौटिल्य अर्थशास्त्र में निरूपित प्राचीन भारत की उपब्धियों के विषय में भी गर्व का अनुभव कराना होगा। इस विषय ने हमारे देश के आधुनिक विद्वानों के समक्ष शोध के लिए एक विराट तथा फलप्रसू क्षेत्र खोल दिया है।

यह सब निश्चित रूप से देश के प्रति श्रद्धा तथा जनता के प्रति प्रेम जगायेगा। इस

तरह उत्पन्न हुए प्रेम को, छात्रों को जनसेवा में प्रशिक्षित करके हर प्रकार से और भी गहन बनाने का प्रयास करना होगा। बाढ़, अकाल तथा महामारियों के समय सेवा कार्यों के लिए स्वयंसेवकों के रूप में छात्रों की भरती को हमारी शिक्षा-प्रणाली का एक अंग बनाना होगा।

इस प्रकार उनमें अपने समुदाय तथा देश के प्रति एक ज्वलन्त प्रेम जगाने के लिए सुव्यवस्थित प्रयास करने होंगे। वैसे सहानुभूति तथा बुद्धि की स्वाधीनता आवश्यक है। उनमें अपने समुदाय तथा देश के प्रति प्रेम को जगाते समय उन्हें इस बात का निश्चय कराना होगा कि इसके लिए अन्य समुदायों तथा देशों से घृणा करने का कोई कारण नहीं। उन्हें महसूस कराया जाय कि धर्मों, प्रथाओं, इतिहासों तथा परम्पराओं की विविधता के पीछे सर्वत्र एक ही मानवीय हृदय स्पन्दित हो रहा है, इस प्रकार उन्हें समूची मानवता के लिए सहानुभूति सिखायी जाय। परन्तु इस सन्दर्भ में हमें सर्वदा स्मरण रखना होगा कि जो व्यक्ति अपने समुदाय से प्रेम नहीं कर सकता, उसमें राष्ट्रप्रेम भी नहीं आ सकता और राष्ट्रप्रेम के बिना वह सम्भवत: मानवता के साथ भी किसी लगाव का अनुभव नहीं कर सकता।

हृदय की शुद्धि के लिए प्रेम के इन सभी रूपों की तुलना में भगवत्प्रेम सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। प्रेम के बाकी सभी रूप इस भगवत्प्रेम में ही समाहित हैं। ईश्वर से प्रेम करनेवाला निश्चित रूप से सबके लिए संवेदना का अनुभव करता है। ईश्वर तथा धर्म के प्रति प्रेम विकसित करने का सुव्यवस्थित प्रयास होना चाहिए। इसे विशिष्ट हिन्दू हृदय का मानो केन्द्रीय रत्न बना देना होगा। हमारे पवित्र ग्रन्थों की व्याख्या, ऋषियों तथा सन्तों के चरित्र तथा उक्तियाँ, पुराणों तथा इतिहास से आदर्श आध्यात्मिक जीवनियों का प्रस्तुतीकरण, तीर्थों तथा महात्माओं के पास जाना, शिक्षकों का अपना स्वयं का उन्नत चरित्र और छात्रों के स्कूल या आवास का आध्यात्मिक वातावरण – इस प्रेम के उदय के लिए यह सब कुछ आवश्यक है। इसके अतिरिक्त छात्रों को उनकी आयु तथा क्षमता के अनुरूप नियमित प्रार्थना, स्तोत्र-पाठ तथा पूजा के विशिष्ट पाठ्यक्रमों के आधार पर आध्यात्मिक साधना के द्वारा अनुशासित करना होगा।

प्रेम के ये विभिन्न रूप हृदय को अनुशासित करते हुए इच्छाशक्ति को एक उचित दिशा प्रदान करेंगे। इस सम्बन्ध में यह भी बता देना उचित होगा कि सौन्दर्य-बोध का विकास भी हृदय के अनुशासन में एक प्रबल कारक है। सौन्दर्य के प्रति मनुष्य में अन्तर्निहित लगाव होता है; छात्रों को प्राकृतिक सौन्दर्य का बोध कराते हुए उसका प्रशंसक बनाकर इसे अभिव्यक्त कराना होगा। भ्रमण के समय उन्हें सुन्दर स्थानों पर ले जाकर प्रकृति के अपार सौन्दर्य के निरीक्षण तथा रसास्वादन में प्रशिक्षित करना होगा। फिर उन्हें काव्य, संगीत, चित्रकला, मूर्तिकला के द्वारा अभिव्यक्त कलात्मक सौन्दर्य का आनन्द लेने में सहायता करनी होगी। इस प्रकार उन्हें अपनी स्वयं की कलात्मक रचनाओं के द्वारा अपने निजी परिष्कृत विचारों तथा भावों को अभिव्यक्त करने में उत्साह तथा सहायता प्रदान करनी होगी। रेखांकन, चित्रकला, मूर्तिकला, संगीत आदि में नियमित पाठ भावनाओं के परिष्करण में काफी सहायक होते हैं। छात्रों की देखरेख में विद्यालय में लगाया हुआ पुष्पोद्यान उनके भीतर सौन्दर्य-बोध जगाने में काफी उपयोगी सिद्ध होगा। उल्लेखनीय है कि विद्यालय का परिवेश तथा छात्रों का आवास सौन्दर्य की दृष्टि से सजीव हो। □ **(क्रमशः)** □
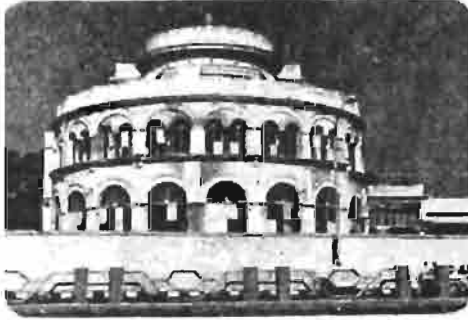
VIVEKANANDAR ILLAM

श्रीरामकृष्ण मठ

मयलापुर, चेन्नई - ६०० ००४

फोन -४९४१२३१, ४९४१९५९ फॅक्स : ४९३४५८९

Website : www.sriramakrishnamath.org

email : srkmath@vsnl.com

८ जनवरी १९९९

प्रिय बन्धु,

स्वामी विवेकानन्द के जीवन तथा उपदेशों से प्रत्येक अध्येता के लिए **विवेकानन्दार इल्लम** एक पुनीत भवन तथा तीर्थस्थान है। आपको विदित होगा ही कि सौ वर्ष पूर्व, फरवरी १८९७ ई. में स्वामी विवेकानन्द चेन्नै के आइस हाऊस या कैसल कर्नन नामक इसी बँगले में पधारे थे। उन्होंने यहाँ पूरे नौ दिन निवास करते हुए बहुत-से आगन्तुकों से भेंट की, भजन गाये, प्रार्थना की और ध्यान किया। यह स्थान अब भी उनकी अदृश्य तथा दिव्य उपस्थिति से स्पन्दित है।

उन्होंने इसमें ६ से १४ फरवरी तक निवास किया तथा भारत के पुनर्निर्माण हेतु भावोत्तेजक भाषण दिये, जो अब 'भारतीय व्याख्यान' नामक पुस्तक में उपलब्ध हैं। फिर १८९७ ई. में स्वामी विवेकानन्द के गुरुभाई तथा एक महान सन्त स्वामी रामकृष्णानन्द के तत्त्वावधान में यहाँ रामकृष्ण मठ की स्थापना हुई, जो १९०६ ई. तक इसी पुनीत भवन में से चलता रहा। इस प्रकार यह भवन दक्षिण भारत में रामकृष्ण संघ के प्रथम केन्द्र का निवास होने के साथ ही एक ऐतिहासिक स्थल भी है, जहाँ से स्वामीजी ने पूरे राष्ट्र को सन्देश दिया।

हम यहाँ एक स्थायी प्रदर्शनी बनाना चाहते हैं, जिसमें स्वामी विवेकानन्द के जीवन तथा सन्देश और भारतीय संस्कृति के उच्च तत्त्वों को प्रदर्शित किया जा सके। हमारी अभिलाषा है कि इसे एक ऐसा केन्द्र बनाया जाए, जहाँ से स्वामीजी के जीवनदायिनी सन्देश को पूर्णाकार चित्रों, सुन्दर तैलचित्रों, मॉडलों, वीडियोग्राफ और फिल्मों द्वारा प्रचारित किया जाए।

यह भवन १८४२ ई. में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासन के दौरान निर्मित हुआ था और सबसे पहले तो इसका समुचित जीर्णोद्धार आवश्यक है। इस परियोजना में लगभग १.५ करोड़ रुपयों की लागत आयेगी। इसका कार्य शीघ्र ही आरम्भ होने जा रहा है, अत: आपसे अनुरोध है कि इस पुण्य कार्य में उदारतापूर्वक सहयोग करके आप श्रीरामकृष्ण के आशीर्वाद तथा विवेकानन्द-अनुरागियों की कृतज्ञता के भाजन बनें। सभी प्रकार के दान आयकर से मुक्त हैं। चेक या ड्राफ्ट कृपया 'रामकृष्ण मठ, चेन्नै' के नाम से भेजें।

मानवता की सेवा में आपका

स्वामी गौतमानन्द

पुनि पुनि पढ़िए

भैरवदत्त उपाध्याय

मानसकार गोस्वामीजी ने कहा है –

शास्त्र सुचिन्तित पुनि पुनि देखिअ। भूप सुसेबित बस नहि लेखिअ॥
राखउ नारि जदपि उर माहीं। जुबती शास्त्र नृपति बस नाहीं॥

शास्त्र कितने ही पढ़ लिए जायँ, परन्तु तो भी आत्मविश्वास नहीं जगता। अधिकारी-ज्ञाता का भाव नहीं आता। मालिक की कितनी ही सेवा की जाय, परन्तु वह सेवक के अधीन नहीं होता। इसी प्रकार शास्त्र भी बहु-अधीत और सुकथित होने पर भी, इति की सीमा में नहीं बँधते। प्रत्येक आवृत्ति में अभिनव रहस्य का अनावरण होता है। ज्ञान का एक नया सूत्र मिलता है। यदि इसके नियमित पाठ को छोड़ दिया जाय, तो इनका विस्मरण अविलम्ब होता है। इसलिए इन्हें बार-बार देखना चाहिए। प्रमाद नहीं करना चाहिए – **स्वाध्यायान्मा प्रमदितव्यम्।**

यह एक नीति वाक्य है – **शास्त्र सुचिन्तित पुनि पुनि देखिअ।** नीति-वाक्यों में जीवन का सत्य छुपा होता है। समाज की सैकड़ों वर्षों की अनुभूतियों का सार होता है। शास्त्र वह है, जो शासन करे, आदेश दे 'शास्नाति इति शास्त्रम्'; शास्त्र मानव-जीवन को अनुशासित करनेवाली विद्या है। आदेश, व्यवस्था, निर्देश, सिद्धान्त, क्रमबद्ध ज्ञान अर्थात विज्ञान, पवित्र धार्मिक ग्रन्थ आदि को भी शास्त्र अपने में समेटे हुए है। विधि-निषेध की व्यवस्था का विधान करना, शास्त्रों का उद्देश्य है। गम्भीर विषयों का क्रमबद्ध विवेचन ही इनका विषय है। इनकी संख्या छह है – शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष।

शिक्षा कल्पो व्याकरणं, निरुक्तं छन्दसां चितिः।
ज्योतिषामयनं चैव षडंगो वेद उच्यते॥

वेदों के उच्चारण आदि की विधि 'शिक्षा', यागयज्ञादि की विधि 'कल्प', शब्द व्युत्पादन की प्रक्रिया 'व्याकरण', वैदिक शब्दों का कोश 'निरुक्त', छन्दों का लक्षक 'छन्द' और नक्षत्रादि की स्थिति का बोधक 'ज्योतिष' – ये शास्त्र कहलाते हैं। वेद का अंग होने से इन्हें वेदांग कहते हैं। व्याकरण वेदरूपी पुरुष का मुख, छन्द पैर और ज्योतिष नेत्र हैं। लोक, शास्त्र तथा वेद की रीतियों द्वारा समाज विनियमित है। इनकी प्रामाणिकता उत्तरोत्तर है अर्थात लोकरीति तभी अनुसरणीय है, जब तक शास्त्र की मर्यादा का उल्लंघन नहीं करती, शास्त्रीय रीति का अनुपालन भी वेदरीति को अतिक्रान्त कर आदेशित नहीं है।

शास्त्रों की विषय-वस्तु, भाषा और शैली कठिन है। इनकी वाणी कठोर है। वे सीधा आदेश देते हैं। स्वप्रतिपादित मार्ग पर चलने का निर्देश देते हैं और न चलने पर दण्ड की व्यवस्था करते हैं। शास्त्र, गुरु और स्वामी की भाषा समान होती है। वह रुक्ष एवं आदेशात्मक होती है। इनके पालन में विकल्प नहीं है। इनके औचित्य और अनौचित्य पर

भी विचार-विमर्श का अधिकार नहीं है। मित्रों का उपदेश परीक्षा, तर्क-वितर्क और ननु-नच का विषय हो सकता है। हितकर वचनों के अनुसरण और अहितकर वचनों के त्याग की छूट हो सकती है; उसकी भाषा विनम्र एवं शैली पक्ष-विपक्ष दोनों को प्रस्तुत करनेवाली होती है। कान्तोपदेश में मधुर स्मिति की रेखाएँ, नेत्रों में बरसाती बादल और हृदय में प्रीतिकर भावों का ज्वार होता है; वहाँ न भाषा होती है, न अर्थों की प्रधानता होती है और न अभिधा तथा लक्षणा की ही पहुँच होती है। परन्तु शास्त्र केवल अभिधा से काम लेते हैं और अपने अधिकार का उपयोग करते हैं, इसलिए उनमें पौरुष, आत्मविश्वास, विकल्प-शून्यता, स्पष्टता और दृढ़ता का भाव रहता है।

शास्त्र उपकारक हैं, परन्तु वे उन्हीं का उपकार करते हैं; जिनके पास बुद्धि है और स्वयं की प्रज्ञा है। प्रज्ञाविहीन जनों के लिए तो शास्त्र अन्धे का दर्पण है, जिसका उपयोग करने में वह अक्षम है –

यस्य नास्ति स्वयं प्रज्ञा शास्त्रं तस्य करोति किम्।
लोचनाभ्यां विहीनस्य, दर्पणः किं करिष्यति॥

लोकशास्त्र के निर्देशित पथ से हटकर मनुष्य जब शास्त्रों में जाता है और शास्त्रों को आचरण की नहीं, पूजा की वस्तु मान लेता है, तब तो उसमें जड़ता का समावेश हो जाता है। वह मूल्यहीनता और सांस्कृतिक संकट से जूझ कर टूट जाता है, बिखर जाता है। जब युगधर्म के परिप्रेक्ष्य में शास्त्रों की पुनर्व्याख्या नहीं होती और लोक उद्धार के लिए क्रान्तदर्शी-युगचेता लोकनायक कोई आचार्य अवतरित नहीं होता, तब इन्हें जड़त्व आच्छादित कर लेता है। पिंगल, पाणिनि, पतंजलि, शंकर, रामानुज, रामानन्द, कबीर और सन्त ज्ञानेश्वर आदि युग-पुरुषों के अवतार का हेतु यही था। उन्होंने शास्त्रों की पुनर्व्याख्या की, लोक को अनुशासित किया और समाज की धारा को तीव्र गति दी।

शास्त्रों का समझना, कहना, करना सब कुछ कठिन है, क्योंकि हमारी प्रवृत्ति सुविधा, स्वार्थ और भोगों की ओर उन्मुख है। हम जन्म से ही रटते चले आ रहे हैं कि ईमानदारी सर्वोत्तम नीति है, परन्तु जब-जब हमारी प्रवृत्ति का टकराव हुआ है, तब-तब हमने बिना चूके इस नीति को तिलांजलि दी है। हमने रटा और पढ़ा बहुत है, परन्तु गुना थोड़ा भी नहीं है। गुनना यानी सिद्धान्त का व्यावहारिक प्रयोग समझना। उसकी व्यापकता और गम्भीरता की अनुभूति करना। जब कोई बात गुन ली जाती है, तब हमारा जीवन तन्मय हो जाता है। तन-मन उसमें डूब जाता है। गहराइयों में उतर जाता है, तभी हमें कुछ प्राप्त होता है। फिर हमसे चूक नहीं होती। शास्त्रों का और उनके आदेशों का विस्मरण नहीं होता। 'पुनि-पुनि देखअ' का यही अर्थ है। प्रत्येक पाठ में उनके विराट अर्थ का दर्शन हो। कबीर ने प्रेम के अक्षरों को पढ़ने की जो बात कही थी, उसका भी यही तात्पर्य था कि उन्हें न केवल पढ़ा जाय, अपितु उहें गुना भी जाय, अर्थ-गाम्भीर्य की अनुभूति की जाय, जीवन में उतारा जाय। कर्म की सुन्दरता के लिए उनसे प्रेरणा लें। पल भर भी उनका विस्मरण न हो। इसलिए उन्हें "पुनि-पुनि पढ़िए, पुनि-पुनि देखिए और पुनि-पुनि गुनिए।" □□□

मन को कैसे ठीक रखें

स्वामी सत्यरूपानन्द

संसार में ऐसा कोई व्यक्ति नहीं है जिसका मन कभी न कभी खराब न हुआ न हो। हम अपने दैनन्दिन जीवन के व्यवहार में भी देखते हैं कि कई बार हमारा मन खराब हो जाता है। हम कहते हैं आज मेरा मन अच्छा नहीं है। मन क्षुब्ध है। या कहते हैं 'मूड खराब' है।

उसी प्रकार जब हम अपने विशेष किसी कार्य से किसी व्यक्ति विशेष से मिलना चाहते हैं तो पहले यह पता लगाने का प्रयत्न करते हैं कि उसका 'मूड' कैसा है? कहीं ऐसा तो नहीं कि उसका मन खराब है। हम यह जानते हैं कि जब किसी व्यक्ति का मन खराब है तो उससे उस समय मिलने पर हमारा काम बनने के बजाय बिगड़ जाने की अधिक सम्भावना रहती है। मन खराब होने की यह समस्या आज की नहीं है। यह समस्या उतनी ही पुरानी है जितना कि मनुष्य, क्योंकि मनुष्य के मन का स्वभाव ही ऐसा है कि वह सदैव सरल रेखा में नहीं चलता उसमें उतार-चढ़ाव आते रहते हैं। मन कभी स्वस्थ और प्रसन्न रहता है तो कभी अस्वस्थ और दुखी।

जब हमारा मन खराब होता है तब हम साधारण असन्तुष्ट, चिड़चिड़े और उदास हो जाते हैं। पहले जो चीजें हमें रुचिकर और प्रिय लगती थीं, वही अलोनी और अप्रिय लगने लगती हैं। स्वजन-सम्बन्धी, मित्रों आदि से मिलना-जुलना अच्छा नहीं लगता। हँसी-मजाक कड़ुआ लगने लगता है। मन की स्वस्थ और प्रसन्न अवस्था में दूसरों की जिन छोटी छोटी बातों की ओर हमारा ध्यान भी नहीं जाता था, जिसे हम कभी बुरा नहीं मानते थे वे बातें ही अब बुरी लगने लगती हैं। काँटों की तरह चुभने लगती हैं।

मन की ऐसी स्थिति में हम प्रायः दूसरों में दोष ही दोष देखने लगते हैं। पर-निन्दा में ही हमें रस आने लगता है। हमारी सहन शक्ति कम हो जाती है। धैर्य छूट जाता है। हम अधीर और चंचल हो उठते हैं। मन कड़ुआ रहता है और हम कटुभाषी हो जाते हैं। व्यक्ति की परिपक्वता और समझ के भेद से किसी का मन अधिक खराब होता है तो किसी का कुछ कम। किसी का मन अधिक समय तक खराब रहता है तो किसी का कुछ कम समय तक खराब रहता है। मन खराब होने पर उससे हमारा आचरण और चरित्र भी प्रभावित होता है और यदि हमारा मन अधिक दिनों तक खराब रहा तो हमारा चरित्र दूषित हो जाता है। जिसके कारण हम परिवार तथा समाज में अप्रिय होकर व्यक्तिगत जीवन में असफल हो जाते हैं। लोगों से हमारे सम्बन्ध बिगड़ जाते हैं। हमारी नौकरी-चाकरी, व्यवसाय-वाणिज्य, काम-धन्धा सब असन्तुलित और अव्यवस्थित हो जाता है। मन सदैव अशान्त और उद्विग्न रहता है। हमें कहीं भी शान्ति नहीं मिलती। जीवन भार स्वरूप हो जाता है।

किन्तु इतना सब होते हुए भी मनुष्य के भीतर ऐसी अद्भुत शक्ति है कि वह यदि दृढ़

संकल्प कर ले तो विवेक-विचार तथा नियंत्रण के द्वारा मन की खराब से खराब अवस्था को सुधारकर उसे सदैव के लिये स्वस्थ और शान्त कर सदैव प्रसन्न रह सकता है।

जब कभी ऐसा लगे कि हमारा मन खराब हो रहा है, विचलित हो रहा है तो हमें तुरन्त सावधान हो जाना चाहिए तथा दृढ़तापूर्वक निश्चय करना चाहिए कि हम अपने मन को खराब नहीं होने देंगे। उसे सन्तुलित और शान्त रखेंगे। ऐसा दृढ़ संकल्प ही मन को ठीक करना प्रारम्भ कर देगा।

ऐसा निश्चय कर किसी एकान्त स्थान में जाकर शान्तिपूर्वक चुपचाप बैठ जाइये और विचार करने का प्रयत्न कीजिये कि मन खराब होने का क्या कारण है? मन के क्षुब्ध होने के कारणों को ढूँढ़िये। फिर उन्हें दूर करने का उपाय कीजिये।

यदि चुपचाप बैठकर विचार करने में कठिनाई हो तो कागज लेकर बैठ जाइये और अपने मन में उठनेवाले भावों और विचारों को विस्तारपूर्वक लिखिये। मन की सभी बातों को खोलकर लिखिये। आपको जब ऐसा लगे कि आपने मन की सभी बातें लिख ली हैं। तो उसे आद्योपान्त ध्यानपूर्वक पढ़िये। इस प्रकार आप अपने मन के खराब होने के कारणों को समझ सकेंगे। उन्हें पकड़ सकेंगे।

खराब मन को ठीक करने के लिए धैर्य की अत्यन्त आवश्यकता है क्योंकि मन खराब होने पर सबसे पहले धैर्य छूट जाता है। फिर क्रोध आने लगता है। स्वभाव चिड़चिड़ा हो जाता है इस कारण स्वजन, सम्बन्धियों, मित्रों आदि से सम्बन्ध बिगड़ जाते हैं, परिणाम-स्वरूप हमारा मन और खराब हो जाता है तथा दिनों-दिन हम और अधिक अशान्त और दुखी होते जाते हैं।

ऐसे समय में मौन और कम बोलने का अभ्यास बड़ा उपयोगी सिद्ध होता है। न बोलने या कम बोलने पर हम बहुत से व्यर्थ तर्क-वितर्क तथा कटु व्यक्तियों से बच जाते हैं। इस प्रकार दूसरों से सम्बन्ध बिगड़ने से भी बच जाते हैं।

यदा-कदा मन खराब होना स्वाभाविक है तथापि यदि यथासमय उसे ठीक करने का प्रयत्न न किया जाय तो 'खराब मन' एक मानसिक रोग होकर हमारे स्वभाव और चरित्र को ही दूषित कर देगा। और यदि एक बार स्वभाव दूषित हो गया तो उसे सुधारना बहुत कठिन हो जाता है।

मन को स्वस्थ और प्रसन्न करने का सर्वश्रेष्ठ उपाय है प्रसन्नचित्त व्यक्तियों का संग करना तथा उनके परामर्श तथा आचरण के अनुसार अपने विचारों और आचरणों में परिवर्तन लाना। □

स्वामी तुरीयानन्द के उपदेश

(पत्रों से संकलित)

(७७)

ससार में सब कुछ सुलभ है, परन्तु प्रभु के श्रीचरणों में मति-ग।ते बड़ी ही दुर्लभ है। और उसकी प्राप्ति न होने पर बाकी समस्त उपलब्धियाँ व्यर्थ हैं, क्योंकि कुछ भी काम नहीं आयेगा। इस बात को सभी जानते और समझते हैं। उनके प्रति भक्ति का उदय होने से जीवन मधुमय हो जाता है, नहीं तो सब बोझ-ढोना मात्र है। प्रभु ने तुम्हें भक्तिधन भी प्रदान किया है, इसके लिए मैं अत्यन्त प्रसन्न हूँ। उनके श्रीचरणों में मन रखकर तथा उनके भक्तों का संग तथा सेवा में कालयापन कर पाने से जीवन-धारण सार्थक हो जाता है। प्रभु की कृपा से तुम लोगों की मति-गति ऐसी ही हुई है, यह क्या कम सौभाग्य की बात है? परमभक्त तुलसीदास जी कहते हैं कि धन, जन, ऐश्वर्य आदि तो पापी के भी हुआ करते हैं, परन्तु हरिभक्ति तथा भक्तसंग सच्चे भाग्यवानों को ही होता है। सभी साधु-संन्यासी तुम लोगों से जो प्रेम करते हैं, इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं; क्योंकि जो लोग प्रभु के शरणागत होते हैं, वे ही उनके परमप्रिय तथा आत्मीय हैं। उनका सम्बन्ध मायिक तो है नहीं, उनका सम्बन्ध भगवान को लेकर है।

मठ में स्वामी विवेकानन्द के जन्मोत्सव का विवरण पहले ही मिल चुका है। अब दिन-पर-दिन सर्वत्र इसमें वृद्धि होती जा रही है। जितने ही दिन बीतते जायेंगे, उतना ही लोगों में उनका प्रचार होगा। जितना ही लोग उन्हें समझेंगे; उतना ही वे अविद्या के हाथ से मुक्त होकर, यथार्थ सत्य को हृदयंगम कर सकेंगे तथा विमल आनन्द के अधिकारी होकर अपना जीवन धन्य करेंगे। धन्य है प्रभु की दया और धन्य है उनकी महिमा!

प्रभु की जो भी इच्छा हो, उसी में कल्याण है। उनके चरणकमलों में मन रख पाने पर भय का कोई भी कारण नहीं रह जाता। मेरी उनसे यही हार्दिक प्रार्थना है कि वे कृपापूर्वक हमारा मन अपने श्रीचरणों में लगा रहने दें।

(७८)

सत्संग से प्राप्त हुए फल को स्थायी करने का प्रयास करो अर्थात् भगवत्-चिन्तन सुचारु रूप से चलता रहे, इस दिशा में विशेष ध्यान रखना। सत्संग का परमलाभ यही है कि वह चित्त की गति को असत् पदार्थों की ओर से मोड़कर परमार्थ में लगा देता है। सच्चे साधु वे ही हैं, जिनके संग में भगवद्भाव का स्फुरण हो। साधु को पहचानने का यह एक उत्कृष्ट उपाय है। इसलिए तुलसीदासजी कहते हैं –

संगत करिये साधु की हरे और की व्याधि।
ओछि संगत नीच की आठों पहर उपाधि॥

– अर्थात् संगत साधु की ही करनी चाहिए, क्योंकि वह भवव्याधि को दूर कर देती है, परन्तु नीच व्यक्ति के संग से चौबीसों घण्टे कठिनाइयाँ उपस्थित होती रहती हैं।

(७९)

यदि मैं यह जानता कि कैसे प्रभु के हाथ का यन्त्र हुआ जाय, तो यह मेरे लिए कितने आनन्द की बात होती ! तथापि विश्वास रखो कि पूरे हृदय के साथ उनसे प्रार्थना करने पर वे उसे पूरा करते हैं। फिर उनकी कृपा न होने तक ठीक ठीक प्रार्थना करना भी कठिन है – यह बात निःसन्देह पूर्णतया सत्य है। उनके शरणागत होने पर सारे तापों से शान्ति हो जाती है तथा वे उस भक्त का सारा भार ले लेते हैं – यह बात मुझे गीता तथा सत्संग के द्वारा समझ में आई है। आप लोगों ने प्रभु की शरण ली है, अतः चिन्ता की कोई बात नहीं; क्योंकि प्रभु ने प्रतिज्ञा की है – **कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति** – हे कुन्तीपुत्र, तुम निश्चित रूप से यह जान लो कि मेरे भक्त का कभी विनाश नहीं होता। (गीता ९/३१)

अपने जीवन पर दृष्टिपात करके आप इस बात की यथार्थता का अनुभव कर सकते हैं। जिस प्रकार वे आपको धीरे धीरे अपनी ओर खींच रहे हैं, जिस प्रकार हृदय से व्यर्थ विचार दूर होते जा रहे हैं और प्रभु का चिन्तन प्रवेश करता जा रहा है - इस बात पर विचार करने से मन में बल, उत्साह, भक्ति और विश्वास का अपने आप उदय होता है। जब इतना हुआ तो निःसन्देह वे और भी करेंगे। उनके ऊपर निर्भर करना ही एकमात्र उपाय है। समय आने पर वे सारी कामनाएँ पूर्ण करते हैं।

(८०)

कुछ दिनों पूर्व अ - का पत्र मिला था। उन लोगों के संन्यास ग्रहण की बात जानकर मैं अत्यन्त हर्षित हुआ हूँ। मैं प्रभु से प्रार्थना करता हूँ कि वे उसका ठीक ठीक पालन करने तथा मानव जीवन धन्य करने की उन्हें शक्ति दें। नहीं तो, केवल नाम के लिए संन्यास लेना पर्याप्त नहीं है। संन्यास बड़ी ही कठिन चीज है। ठाकुर कहा करते थे कि जो व्यक्ति हाथ-पैर छोड़कर वृक्ष से गिर सकता है, वही संन्यास का अधिकारी है। बात उतनी आसान नहीं है। भगवान पर पूर्ण निर्भरता रहे बिना ऐसा करना सम्भव नहीं। ...

(८१)

बाँकुड़ा का समाचार बीच-बीच में मिलता रहता है। वहाँ पर बड़ा ही कष्ट है, प्रभु की इच्छा क्या है, वे ही जानें। तथापि तुम लोगों को नारायणसेवा करके धन्य होने का एक उत्तम अवसर मिला है। प्राणपण से सेवा कर धन्य हो जाओ। कहीं भी रहकर, नारायण सेवा में लगे रहना क्या कम सौभाग्य की बात है ? तुमने प्रभु के श्रीचरणों में अपना उत्सर्ग किया है। वे जहाँ भी रखें, वहीं रहकर उनके कार्य में जीवन लगा कर अपने को कृतार्थ समझना। इससे अधिक कुछ समझने की इच्छा न करना। वे ही सबके एकमात्र आश्रय हैं। 'ब्रह्म निरूपण का प्रयास करना उसी प्रकार है जैसा कि निकले हुए दाँतवाले व्यक्ति का हँसने का प्रयास। मेरी ब्रह्ममयी माँ सर्वघट में विराजमान हैं और उसके श्रीचरणों में गया, गंगा, काशी आदि निवास करते हैं।' भगवान नित्य-प्रकट हैं, उन्हें समझने की आवश्यकता नहीं होती। निकले हुए दाँतवाले व्यक्ति को जैसे हँसने की जरूरत नहीं, क्योंकि उसके दाँत अपने आप ही निकले हुए हैं। □